दयानन्द कॉलेज ऐतिहासिक ग्रंथमाला १

मोतीमाला का आठवाँ रत्न

महाराणा-प्रताप

मूल लेखक

श्रीराम शर्मा एम. ए.

एम. आर. ए. एस (लंडन)

एफ. आर. एच. एस (लंडन)

इतिहासाध्यापक डी. ए. वी. कालेज, लाहौर।

अनुवादक

श्री सन्तराम बी. ए.

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत-पुस्तक-विक्रेता,

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

तृतीय संस्करण] १९४० [मूल्य १)

प्रकाशक—
सुन्दरलाल जैन
पंजाब संस्कृत पुस्तकालय,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।

(सर्वाधिकार सुरक्षित हैं)

मुद्रक—
शान्तिलाल जैन
बम्बई संस्कृत प्रेस,
शाही मुहल्ला, लाहौर ।

संसार भर की हिन्दी तथा संस्कृत पुस्तकें नीचे लिखे पते से मंगवाएँ—

मोतीलाल बनारसीदास हिन्दी-संस्कृत-पुस्तक-विक्रेता सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर ।	मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता बाँकीपुर, पटना ।

FOREWORD

Prof. Sri Ram has written a spirited account of Pratap Singh, the Rana of Mewar, who defied the might of Akbar. Indomitable courage, the protection of his jungles and ravines and the loyal assistance of the Bhils—themselves conquered by his ancestors—enabled the Rana to resist the armies of what was then the most powerful Empire in the world and to scorn an alliance matrimonial or feudal, with the Great Moghal.

The author hesitates for a moment whether to class this heroic figure with others like Hereward the Wake, who have used some geographical advantage to lead a forlorn hope in refusing to accept inevitable changes. On the whole he concludes that Pratap was rather a harbinger of organised reaction against the domination of Delhi.

However that may be, the story makes good reading. Colonel Tod was the first to write it in English, and every subsequent account must start with his Annals of Mewar. In doing so, Prof. Sri Ram has by no means followed blindly the lead of that account written a century ago. Rather he has searched all the sources he could find, whether in Persian or Hindi, and for every point and incident he quotes his authority.

In this way this little book gains in value for the student of history, who is not satisfied with a romantic story, but wishes to know what were the actual facts on which the romance is based and how those facts can be determined. Then only is he in a position to study their general historic importance.

It is more important to stress this point, because it would appear that Indian historians have sometimes started with romances and used them as if they were reliable sources of information. Sometimes a literary fictitious "history" masquerades as a true one.

If the author of a historical novel has made a careful study of his subject, the novel contains much that is true like Kingsley's Hereward the Wake. But no historian would quote Kingsley's book as a source of evidence. When the writer allows his imagination a freer rein, still greater is the danger in regarding a good story as a good history.

Even after a critical study of the evidence Rana Pratap stands out as a valiant figure.

Where the evidence varies the author seems to offer reasonable conclusions and to give us a very creditable account of his hero.

A. C. WOOLNER.

प्रस्तावना

राजपूताने के इतिहास का अध्ययन बड़ा ही आकर्षक है। इसमें लोकोत्तर चमत्कार और अद्वितीय वीरता भरी पड़ी है। इस ऊबड़ खाबड़ प्रदेश में सिसोदियों और राठौरों ने, कछवाहों, चौहानों और परमार वंश के राजपूतों ने अपने अक्षुण्ण कीर्तिस्तम्भ खड़े किये हैं, जिनकी ओर सम्पूर्ण संसार का व्यक्तित्व खिंच कर चला आया है। उसके एक भाग में जहां सिसोदियों ने अपनी बहादुरी की नक्काशी की है वहां यात्रियों को मुग्ध कर दिया है। उसी एक कोने में पुण्य कीर्ति प्रताप की पवित्र आत्मा का आवाहन हुआ है जिससे वह भाग बहुत ही दर्शनीय हो उठा है। इस रोमांचकारी राजपूत प्रदेश में प्रताप का स्थान सब से पवित्र और सब से ऊँचा है। यदि साहस राजपूतों की सब से बड़ी सम्पत्ति थी तो प्रताप उसका अवतार था। अटूट साहस, अथक परिश्रम और अनश्वर प्रतिज्ञा के कारण प्रताप ने संसार के इतिहास में अपना बहुत ऊँचा स्थान बना लिया है। प्रताप भयंकर विपत्तियों के सामने हिमालय के समान एक पग भी न हटनेवाले लोगों में से एक था। जहां लोग संकटों को सामने देख कर घबरा जाते हैं वहां वीरवर प्रताप ने आजीवन उनका स्वागत किया। आरामतलबी और विलासिता के सामने संसार के सैकड़ों वीर झुक गये परन्तु पर्वत-प्रताप स्वतन्त्रता के सामने इन्हें सदा हेच समझता रहा। फारस, इंगलैंण्ड, बगदाद और अरब के राजाओं ने मुगल दरबार में अपनी अमूल्य भेंटें भेजना जहां गौरव की वस्तु समझा, वहां प्रताप ने 'विद्रोह' इस शब्द के द्वारा अपने आत्माभिमान पर ही सन्तोष किया। इसका

फल यह हुआ कि अरावली की एक एक घाटी ने प्रताप की दिव्य वीरता से भरे चमकते हुए 'जय' और शानदार 'पराजय' की एक एक कहानी अपने पत्थर से कठोर दिल पर लिख डाली। और आनेवाली राजपूत सन्तति ने उसी के पवित्र नाम और अक्षय कार्य द्वारा उस गौरव की रक्षा का भार लिया जिसके द्वारा उसने विशाल मुग़ल-साम्राज्य के कोने कोने को झंझोड़ दिया था। ओह, वह कैसा दृश्य होगा ? एक ओर प्रणवीर प्रताप और दूसरी ओर विशाल मुग़ल-साम्राज्य ! उसका नाम सुनते ही लोगों के दिल दहल जाते थे ; अपने इस काम से प्रताप ने सिद्ध कर दिया कि भारतवर्ष में मुसलमानों के सदियों राज्य करने पर भी यह अभिमानी वंश उसी तरह गौरव के साथ सिर ऊँचा किए खड़ा रहेगा।

खेद है, इसकी वीरता का सम्पूर्ण इतिहास हमें उपलब्ध नहीं होता। किंवदन्तियों और कुछ सुन्दर कविताओं में युद्ध-सम्बन्धी इसकी कुछ घटनाओं का परिचय मिलता है। अभी तक मेवाड़ में इसके कुछ कथानक बड़े प्रसिद्ध हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी उसके समकालीन इतिहासों में हमें उसकी वीरता का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। आश्चर्य की बात तो यह है कि तत्कालीन भाटों ने भी अपनी कविताओं में मेवाड़ के इस अद्वितीय वीर का कुछ उल्लेख नहीं किया। शायद उस समय वे लोग वैभवपूर्ण अकबर के दरबार में चले गए होंगे। हां उस समय के कुछ कवियों ने हल्दीघाटी में होने वाले युद्ध की दृढ़ता का संकेत अवश्य किया है। किन्तु किसी भी बन्दीजन ने राजस्थान की इस 'थर्मापोली' का सिलसिलेवार वर्णन नहीं किया।

हमें इस बात का दुःख है परन्तु उस हानि को पूरा करने के और कई साधन हैं। इन पृष्ठों में राणा प्रताप की पूरी जीवनी देने की चेष्टा की गई है। मैं नहीं चाहता कि राजपूताने के एकमात्र इतिहासकार 'टाड' की पुस्तक की आलोचना की जाय। किन्तु यह तो विवश होकर कहना ही पड़ेगा कि 'टाड' की पुस्तक का पूर्णरूप से संशोधित एक संस्करण निकलना ही चाहिए। खेद है कि इस घोर आवश्यकता का किसी ने अनुभव नहीं किया। इस पुस्तक में मैंने टाड के ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना की अपूर्णता का उल्लेख किया है।

इतना होते हुए भी मेरे हृदय में टाड के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन में किसी तरह की कमी नहीं आई। जहां मुझे फारसी ऐतिहासिकों एवं जनता की किंवदन्तियों में इस से दृढ़ साक्षियां मिली हैं वहां मैंने टाड से अपना मत भेद भी प्रकट कर दिया है। यह मेरा ही पहला प्रयास है कि मैंने सब का समन्वय करके एक निश्चय पर पहुँचने का यत्न किया है। अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, हिन्दी, राजस्थानी और उर्दू में जहां भी मुझे इस सम्बन्ध में कुछ मिल सका मैंने पुस्तक को प्रामाणिक बनाने का यत्न किया है। साथ ही मैंने ताम्रपत्रों, शिलालेखों, किंवदन्तियों, भाटों के पद्यों, राजकीय इतिहासों और यात्रियों के अनुभवों से भी लाभ उठाया है। मैंने सतह से नीचे जाकर ऐतिहासिक निचोड़ों के कारण और प्रभावों को ठीक ठीक करके मिलाने की भी चेष्टा की है।

राणा प्रताप का जीवन किसी भी जाति के गौरव की वस्तु हो सकती है। पुस्तकस्थ वर्णन ही उसकी सारी स्मृतियों, विभूतियों और महत्ताओं की समाप्ति नहीं है। मुझे विश्वास है प्रताप के महान व्यक्तित्व पर ध्यान रखते हुए पाठक सुदामा के चावलों की पोटली की तरह दरिद्र लेखनशैली पर सन्तोष करेंगे।

अन्त में मैं राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं विश्वविदित 'प्राचीन लिपिमाला' के लेखक महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने मेरी पाण्डुलिपि को एक बार देख कर उचित परामर्श दिये हैं तथा जिनकी कृपा से मैं पुस्तक को सांगोपांग बना सका हूँ।

श्रीराम शर्मा

महाराणा प्रताप

पहला परिच्छेद

वंश-परिचय

जिस वंश के लोग आजकल मेवाड़ के राजसिंहासन को सुशोभित कर रहे हैं उस का परम्परागत इतिहास सन् ७२८ ई० से आरम्भ होता है। इसी वर्ष कालभोज बापा ने मोरी वंश के राजा को चित्तौड़ से भगा कर स्वयं उस पर अधिकार कर लिया। बापा और उस के कार्यकलाप के विषय में अनेक कथायें मिलती हैं। परन्तु इन कथाओं में बहुत गड़बड़ है, और पुरानी होने से वे धुँधली प्रतीत होती हैं। इस कारण इस सिसोदिया वंश के पूर्व पुरुष का ऐतिहासिक चित्र पूरा पूरा खींचना एक दुस्तर कार्य है।

कहा जाता है कि जब मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध देश को विजय कर पूर्व की ओर प्रस्थान किया, तब

कालभोज ने ही भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण को रोका था। मुहम्मद पराजित हुआ और देश का शेष भाग मुसलमानों के हाथों पड़ने से बच गया। उस ने सन् ७५४ में अपनी राज्य सत्ता का परित्याग कर दिया। इस के पश्चात् बड़े बड़े वीर योद्धा इस के उत्तराधिकारी हुए। जब शहाबुद्दीन ने भारतवर्ष पर सन् ११६१ ई० में आक्रमण किया, तब सुमेरसिंह, चित्तौड़ के सिंहासन पर विराजमान थे। उन के विषय में कहा जाता है कि उस ने पृथ्वीराज की बहन से विवाह किया था। राजपूतों में प्रसिद्ध है कि सुमेरसिंह ने पृथ्वीराज की बड़ी सहायता की थी। सुमेर-सिंह के बाद आठवीं पीढ़ी में राणा रत्नसिंह हुए। यह वही राणा हैं जिन्हों ने रानी पद्मिनी से विवाह किया था। राणा रत्नसिंह के इतिहास को दो घटनाओं ने बहुत रोचक बना दिया है। उन में से एक तो चितौड़ की पहली लूट है और दूसरी सेनापति भीमसेन का अलाउद्दीन से कड़ा मुकाबला। महारानी पद्मिनी की वीरता के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। इस ने उस प्रथा का सूत्रपात किया था जिसके अनुकरण में राजपूत राजकुमारियां मुसल-मान विजेताओं के हाथ पड़ने के बजाय धधकती हुई ज्वाला में कूद कर अपने पंचभौतिक शरीर को भस्मीभूत कर दिया करती थीं। जिसे अब तक भी 'जौहर' के नाम से पुकारा जाता है।

मेवाड़ के इतिहास में यहाँ के राजाओं की पूर्ण स्वतन्त्रता

का पहला परिच्छेद सन् १२६६ ई० में समाप्त हुआ, जब कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर विजय पाई। इसी समय से झगड़े का दूसरा, और अधिक घटनापूर्ण परिच्छेद आरम्भ होता है। इस में दिल्ली और मेवाड़ का युद्ध जारी रहा। इस युद्ध का न तो अन्त हुआ और न कुछ निर्णय ही। इस राज्य का इतिहास वीर रक्षकों के रुधिर से रंगा पड़ा है।

चित्तौड़ पर मुसलमानों का शासन होना राजपूत वीरों के लिये असह्य था। राजा हमीरसिंह (१३०१ से १३६४ ई० तक) सीसोदिया वंश के इस अपमान का बदला चुकाने के लिये प्रस्तुत हुआ। उस ने चित्तौड़ में खिलजी के द्वारा नियुक्त राजपूत शासक को मार भगाया; और अपने जीवन में ही मुहम्मद तुग़लक के साथ, जब उस ने दिल्ली के मुसलमान बादशाह के लिये मेवाड़ को फिर जीतने का प्रयत्न किया, युद्ध कर के विजय प्राप्त की। मुहम्मद को पराजित कर के बन्दी बना लिया गया। उसे तभी मुक्त किया गया जब उस ने अजमेर, रणथम्भोर और नागौर अपने विजेता के अर्पण कर दिये। हमीर अपने जीवन-काल में ही राजस्थान के सारे राजपूत राजाओं का राजाधिराज स्वीकार कर लिया गया था। राणा कुम्भा भी इसी के समान प्रतापी था। उस का विजय-स्तम्भ अब भी मालवे के शासक महमूद पर प्राप्त की हुई विजय का साक्षी है।

परन्तु प्रताप के पूर्वजों में सब से प्रसिद्ध उस के दादा

राणा संग्रामसिंह (१५०६ से १५२८) थे। मध्यभारत और राजपूताने के आधिपत्य से ही सन्तुष्ट न होकर उन्हों ने अपने मन में दिल्ली के सिंहासन पर भी अपना प्रभुत्व जमाने की ठानी थी। बाल्यकाल में ही वह अपनी पैतृक सम्पत्ति से वंचित कर दिए गए थे। तो भी निर्वासित का सा कठिन जीवन बिताते हुए सन् १५०६ ई० की २४ मई को उन्हों ने मेवाड़ का अधिपति बनने में सफलता प्राप्त की। थोड़े ही वर्षों में वह उन सारे राजपूत देशों के राजाधिराज बन गए।

उन्होंने मालवे के सुल्तान महमूद को हरा कर अपना बन्दी बनाया। राजपूत राजाओं को उन की सेना के साथ चलने में गर्व होता था। उनके लिए युद्ध-क्षेत्र खेल का सा मैदान था। वास्तव में वह सिंह के समान युद्ध करते थे। युद्ध का देवता सदा उन पर प्रसन्न रहता था। न केवल उनकी विजय-पताका ही सदा फहराया करती थी, प्रत्युत उन के शरीर पर अस्सी घावों के चिह्न थे। युद्ध के देवता ने अपनी प्रसन्नता प्रकट कर इन्हीं के द्वारा उन के शरीर को विभूषित किया था।

उन का एक हाथ कट चुका था, एक आँख जाती रही थी, एक पाँव भी लड़ाई में निकम्मा हो चुका था। फिर भी ऐसे अद्भुत योद्धा का जीवन उनके राजपूत सहचरों में एक नवीन वीरता और उत्साह का संचार करता था। उन की 'वीरोचित लड़ाइयां और वैयक्तिक वीरता उन के लिए

आदर्श का काम देते थे।

दिल्ली के राजसिंहासन पर इस समय इब्राहीम लोधी जैसी अयोग्य व्यक्ति था। यह पराक्रमी शासकों का अन्तिम वंशज था। साँगा ने इस को १५१७ ई० में खतौली में परास्त किया, और फिर सन् १५१८ ई० में चन्देरी को जीता। इब्राहीम लोधी का प्रभुत्व और भी कई प्रकार से क्षीण हो चुका था। शासन-सत्ता उस के हाथ में मानों काँप रही थी। उस के पठान सरदार उस के बलहीन अहंकार से बेचैन हो रहे थे। यदि कोई एक राजपूत वीर सेना लेकर एकाएकी दिल्ली पर चढ़ाई करता, तो संभवतः सारी मुसलमान रियासतें मिलकर उसका सामाना करतीं। दिल्ली का सिंहासन इस्लाम धर्म में विश्वास रखने वालों पर अल्लाह की प्रसन्नता का एक चिह्न और भारतवर्ष पर मुसलमानों की प्रभुता का प्रमाण था। राणा साँगा ने दिल्ली पर आक्रमण करने के पहले किसी ऐसी बाहरी शक्ति की प्रतीक्षा करने का स्वयं निश्चय किया जो उस जर्जरित राज्य पर पहले चोट करे। इस काम के लिए साँगा को अपने समान ही वीर एक योद्धा मिल गया।

बाबर ने जब से जीवन में प्रवेश किया था तभी से उसे भारत जीतने की लगन लगी हुई थी। पठान सरदारों में असन्तोष बढ़ता देख उसे सन् १५२६ में अपनी इच्छा को पूर्ण करने का अवसर मिल गया। पानीपत के युद्ध में इब्राहीम 'लोधी

पराजित हुआ। इस के साथ ही फौजी छावनियों द्वारा भारत पर प्रभुता जमाने की विदेशियों की नीति का भी अन्त हो गया। बाबर आया तो था केवल विजय-प्राप्ति के लिए, परन्तु वह राज्य करने के लिए ठहर गया। राजपूतों में पाई जाने वाली इस परम्परागत कथा में कोई बात असम्भव नहीं जान पड़ती कि बाबर को आमन्त्रित करने वालों में से साँगा भी एक था। परन्तु राणा संग्रामसिंह को यह सौदा महँगा पड़ा। बाबर कोई तैमूर थोड़े ही था जो विजय पाकर वापिस चला जाता। उस ने निर्वासन में भारत को अपना घर बनाने का निश्चय किया। यद्यपि लोधी वंश पराजित हो चुका था, फिर भी राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूत बाबर के भारतवर्ष में रहने के अधिकार को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत न थे। इसलिये अब फौलाद का सामना फौलाद से था, और युद्ध अनिवार्य हो गया। बाबर साधारण तौर पर कभी भयभीत नहीं हुआ था, परन्तु जब उसने शक्तिशाली राजपूतों को अपने सामने देखा तो वह भी अपने राज्य की कच्ची नींव को समझ कर उद्विग्न हो उठा।

बाबर के सैनिक घबरा गये, उसके एक ज्योतिषी ने बाबर का पराजित होना निश्चित बताया। बाबर समझ गया कि उसके जीवन की सब से क्रान्तिकारी घटना घटित होने को है। वह मदिरा का पुजारी था, परन्तु इस दुस्साध्य कार्य में सफलता की आशा से उसने इसे भी तिलाञ्जलि

देदी। अन्त में वह भारत में राज्य स्थापन के लिये सेना को राणा साँगा के साथ युद्ध करने में सफल हुआ। यदि कहीं राणा संग्रामसिंह विजयी होता तो निस्सन्देह दिल्ली में हिन्दू राज्य की स्थापना हो जाती।

इसके बाद खनुआ की लड़ाई हुई। वह भी मध्यकालीन भारत की अनेक निर्णायक लड़ाइयों के समान ही थी। एक ओर राजपूतों का साहस था, दूसरी ओर मुग़लों का संगठन। चतुर सेनापति साँगा का सामना लगन के धनी बाबर से था। सदा की भाँति कहा जाता है कि एक विश्वासघाती राजपूत सरदार शत्रु से जा मिला और बाबर की चालाकी से राजपूतों को यह धोखा हो गया कि मुसलमानी सेनायें भाग रही हैं। बाबर की तोपों ने प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया। अन्त में १७ मार्च १५२७ ई० को राणा साँगा की हार हुई। अब भारत के साम्राज्य पर बाबर का अक्षुण्ण अधिकार हो गया। मुग़ल साम्राज्य का बीज अंकुरित हो गया राणा साँगा हतोत्साह होकर अपने देश को लौट गया। वहाँ जनवरी सन् १५२८ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार मध्यकालीन भारत में हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना के पहले प्रयत्न का अन्त हुआ।

साँगा की मृत्यु के पश्चात् अराजकता और कूटप्रबन्ध सामान्य अवस्था से भी अधिक फैल गये। रत्नसिंह,

विक्रमाजीत, और बनवीर, जो क्रमशः उसके बाद राजा हुये स्थिरता से मेवाड़ के सिंहासन पर न बैठ सके और अन्त में उदयसिंह अपने पिता के स्थान पर सन् १५३७ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, उसका भी आसन काँपता ही रहा। जिन गुणों के कारण राणा साँगा एक बड़ा नेता बना था, उनमें से इसमें एक भी न था। वह आलस्य और विलासिता में तल्लीन रहता और अपने उत्तरदायित्व से झिझकता था। फिर भी सिसोदिया वंश का रुधिर उसकी नसों में अब तक झनझना रहा था। इसी कारण वह अकबर के कूट-जाल में फँसने से बचा हुआ था। उसका एक अल्प-वयस्क पुत्र शक्तिसिंह मुग़ल दरबार में पहुँच चुका था। परन्तु इतने में भी अकबर की तृष्णा शान्त नहीं हुई थी। अन्त में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण करने का निश्चय किया और मुसलमानी सेनाओं ने राजपूतों की वीरता के केन्द्र चित्तौड़ की ओर कूच किया। उदयसिंह ने शीघ्रता से दुर्ग की रक्षा का भार मेड़ता के राव जयमल राठौर को सौंप कर स्वयं सुदूर पहाड़ियों की शरण ली। यह चित्तौड़ का तीसरी और सौभाग्य से अन्तिम लूट हुई। मुट्ठी भर राजपूतों ने उसकी राजसी तृष्णा को रोकने के लिए युद्ध संगठित किया। यह युद्ध बहुत देर तक चलता रहा।

जब २४ फरवरी १५६८ ईसवी को किला उसके हाथों

लगा तो उसने सर्ववध की आज्ञा देदी। कहा जाता है कि मृतकों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके यज्ञोपवीतों का तोल ७४½ मन था।

अब चित्तौड़ के वीर रक्षक मृत्यु के कराल मुख में प्रवेश कर चुके थे और उदयसिंह भागकर कुछ ही वर्ष पहले अपने बसाए नए नगर उदयपुर में जा चुका था। परन्तु इस घोर पराजय के बाद वह अधिक काल तक जीवित न रह सका। ३ मार्च सन् १५७२ को उदयपुर से १९ मील उत्तर पश्चिम गोगुन्दा में उसकी मृत्यु हो गई।

उदयसिंह का शासन-काल मेवाड़ के इतिहास में एक दुर्भाग्य का समय था। राणा साँगा ने अपना कोई ऐसा उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा था जो उसकी कीर्ति को बनाए रख सकता और जो मुग़ल साम्राज्य की शक्ति का सामना कर सकता जो अकबर के द्वारा दृढ़ होने जा रही थी। उदयसिंह अपने साधनों को न संभाल सका था उसने अपनी शक्तियों को यों ही व्यर्थ नष्ट कर दिया था। अब मेवाड़ न केवल अपनी उस गौरवपूर्ण स्थिति को ही खो चुका था, जो उसने साँगा के राजत्वकाल में प्राप्त की थी, वरन् उसके मूल विनिमय प्राकृतिक वैभव का भी लोप हो चुका था। अपने उत्तराधिकारी को उदयसिंह ने एक विलुप्त-प्राय राज्य, शक्तिशाली अकबर से बैर और मेवाड़ की अम्लान कीर्ति बपौती में दी थी।

दूसरा-परिच्छेद

पूर्वजीवन और राज्याभिषेक

उदयसिंह अपने जीवन-काल में सौभाग्य की मधुर मुस्कान से वंचित रहा और मृत्यु के समय उसकी बुद्धि ने भी उसका साथ छोड़ दिया। वह २५ रानियों का पति और बीस से अधिक पुत्रों का पिता था। उन में सब से बड़ा प्रताप था। उसका जन्म ९ मई सन् १५४० को हुआ था। पिता के जीवन-काल में वह कभी अप्रसन्नता का पात्र नहीं बना था, फिर भी उदयसिंह ने पुत्र को गद्दी से वंचित करने और किसी को भी राज्य का उत्तराधिकारी नियत करने के अपने राजकीय अधिकार का उपयोग करके वसीयत की कि प्रताप के बजाय उसका दूसरा पुत्र जगमल, जो कि उसकी चाहती रानी के पेट से था, राज्य का अधिकारी हो। जो राज्य का सच्चा अधिकारी था उसका इस प्रकार राज्य से वंचित कर दिया जाना न केवल अशुभ ही था किन्तु महाघातक भी सिद्ध हो सकता था। जगमल में कभी कोई विशेष सद्गुण नहीं देखा गया था और प्रताप ने अब तक कोई ऐसा अयोग्य कार्य नहीं किया

था जिस के कारण उसे राज्य पाने के पैतृक अधिकार से वंचित किया जाना उचित समझा जाता। मेवाड़ में गृह-द्रोह के लिए यह स्पष्ट निमन्त्रण था, पीछे की घटनाओं ने भी प्रताप का इस प्रकार से वंचित किया जाना अतीव बुद्धि-हीन प्रमाणित किया।

मेवाड़ में राजगद्दी को खाली रखने का कोई रिवाज नहीं। 'राजा की मृत्यु हो गई है, राजा चिरजीवी हो' यही सामान्य रीति है। इस लिए उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी का राजतिलक होना आवश्यक था। सारा मातम पुरोहित के यहाँ मनाया जाता था। नये राजा के आदेश से ही भूतपूर्व राजा का शव श्मशान भूमि को ले जाने का रिवाज था। परन्तु इस बार इस प्रथा के विपरीत कार्य हुआ। शायद इसका कारण यह था कि अब बहुव्यय-व्यापी प्रक्रियाओं और दूसरे कर्मों का कोई प्रश्न न था। उदयसिंह का शव श्मशान में पहुँच गया, परन्तु जगमल वहाँ कहीं दिखाई न दिया, दरबार के सरदारों को अब सूचना दी गई कि उदयसिंह ने जगमल को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय किया था। यह सुनते ही सरदारों पर मानों नीले आकाश से वज्रपात हुआ। उन में से कुछ ने इसे अपना व्यक्तिगत अपमान समझ कर रोष प्रकट किया, क्योंकि इस में उनका परामर्श नहीं लिया गया था।

इस अनिष्ट को सुधारने के लिए उन्होंने एक कूट

युक्ति सोची। उदयसिंह का निर्णय इतना स्पष्ट रूप से अन्यायपूर्ण था कि जगमल को अपने समर्थक मिलने कठिन हो गये। मेवाड़ के सरदारों में जो सब से बढ़े चढ़े थे वे सब प्रताप के साथ थे। प्रताप के मामा झालौर के राजा राव अक्षयराज ने रावत किशनदास, रावत साँगा और ग्वालियर के पदच्युत राजा रामप्रसाद के साथ परामर्श करके एक दम धावा बोल देने का निश्चय किया। वे सब दरबार में गये और जगमल से राजसिंहासन खाली करा लिया। फिर उन्होंने उसे सामने एक आसन पर बैठने का निर्देश किया जो राजकुमारों के लिए विशेषरूप से रक्षित था। जगमल का इतना साहस कहाँ था जो उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर सके। भौंहें चढ़ाये हुए वह निर्दिष्ट स्थान पर जा बैठा। परन्तु सिंहासन अब खाली था। इस कोलाहल में किसी ने यह नहीं देखा कि प्रताप अनुपस्थित है। ढूँढने पर पता लगा कि वह अपने मकान के बाहर घोड़े पर ज़ीन कस रहा है और जिस देश को उसकी अब कोई आवश्यकता नहीं उसे छोड़ने के लिए तैयार है। उसको वहाँ से लाया गया और सामान्य विधि-विधान के साथ राणा बनाया गया। प्रथा के अनुसार सब सरदारों ने उसे नज़राने पेश किए और आकाश "प्रताप की जय" की ध्वनि से गूँज उठा।

जिस आसानी से उदयसिंह की की हुई गलती को ठीक

कर दिया गया उस से यह प्रतीत होता है कि प्रताप युवराज होते हुए राज्य का अधिकारी तो था ही, परन्तु साथ ही उस में कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ थीं जिन के कारण सभी लोग उसे उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। प्रत्येक ओर से प्रताप को अपनी अधिकारप्राप्ति में जो सहायता मिली वह भी उचित ही थी। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण जगमल और प्रताप के भावी जीवन हैं। जगमल ने तुरन्त ही मेवाड़ छोड़ दिया और फौरन ही अजमेर के मुग़ल सूबेदार के पास जाकर अपना दुखड़ा रोया। सूबेदार मेवाड़ के दावेदार एक राजकुमार को शरण दे कर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उचित अवसर पाकर जगमल अकबर की सेवा में पहुँचा। अकबर अनुग्रह करने में बड़ा प्रसिद्ध था। उस ने जगमल को जहाज़पुर की (वर्तमान मेवाड़ में) जागीर प्रदान की। इस के पश्चात् सन् १५५१ ई० में जगमल अपने श्वसुर स्वर्गवासी राव मानसिंह के स्थान पर सिरोही का शासक नियुक्त किया गया। राव मानसिंह सुरतान को अपना उत्तराधिकारी बना गया था। वह बादशाह की सत्ता को नहीं मानता था। इसी सुरतान के साथ युद्ध करते हुये दत्तानी (आबू-पहाड़ पर) नामक स्थान पर १७ अक्तूबर सन् १५८३ को जगमल मारा गया।

कौन कह सकता है कि सिसोदियों ने ऐसे राजकुमार को मेवाड़ के पवित्र नाम पर धब्बा लगाने से रोकने में बुरा

केया । उदयसिंह सन् १५६८ ई० में चितौड़ की रक्षा का
नार एक राठौर सरदार पर छोड़ कर मेवाड़ का पर्याप्त
ग्रनिष्ट कर चुका था । उसी कर्म की पुनरावृत्ति वे दुबारा
नहीं करना चाहते थे। परन्तु एक बात से हमें सन्देह होने
नगता है। सन् १५७२ के पूर्व चौहानों पर एक विजय को
छोड़ कर हमें सारे राजपूत इतिहास में प्रताप और उस की
गीरता का कोई वर्णन नहीं मिलता। प्रताप अपने राज्याभि-
षेक के समय ३३ वर्ष का था । चित्तौड़ की
पिछली लूट के समय वह २६ वर्ष का था । शायद
इस समय वह भी चित्तौड़ के रक्षकों में से
होगा । फिर भी हमें रक्षा के लिए युद्ध में उसका कोई
उल्लेख नहीं मिलता । चित्तौड़ की रक्षा में पहले जगमल
राठौर और तत्पश्चात् फतहसिंह सिसोदिया का
होना इस बात का पूर्ण प्रमाण है कि उन वीर रक्षकों को
उत्साहित करने वाला सिसोदिया वंश का कोई राजकुमार
वहाँ न था । फिर प्रताप कहाँ था ? संभवतः राज्य का
उत्तराधिकारी होने के कारण इस निराशा-जनक युद्ध का
संचालन करने के लिए उसका चित्तौड़ में रहना भयावह
समझा गया था। हमें प्रताप की और भी किसी पहली वीरता
का ज्ञान नहीं फिर भी जगमल का शान्ति-पूर्वक सिंहासन
से उतारा जाना हमारे सभी सन्देह दूर कर देता है कि

प्रताप नाम पैदा कर चुका था।

राजतिलक होली के दिन पड़ा। उस दिन मेवाड़ में राजा आखेट के लिए जाता है। दिवस का अवसान समीप था, परन्तु भाग्य के क्षोभजनक उतार-चढ़ाव के बाद, प्रताप अपने शासन के इस शुभ उत्सव में आखेट छोड़ने को तैयार न था। उसने अपने साथियों को आखेट के लिए तैयार होने की आज्ञा दी और जब वे साँझ को शिकार से लौटे तो वे शिकार से खूब मालामाल हो रहे थे। उस समय इस प्रकार का शकुन बड़ा ही शुभ समझा जाता था। यह सारी घटना गोगुन्दा में हुई थी।

प्रताप अभिषेकोत्सव मनाने के लिए अब यहाँ से कुम्भलगढ़ को चल दिया। उदयसिंह की मृत्यु का समाचार अब सब जगह फैल चुका था। प्रताप के राज्याभिषेक के समय पर जोधपुर का राजा चन्द्रसेन भी मौजूद था। इसने अकबर के प्रति अनन्त शत्रुता की शपथ ले रक्खी थी। चन्द्रसेन की एक पुत्री राणा उदयसिंह को ब्याही थी। उस समय वहाँ पर उस की उपस्थिति ने असामान्य दिलचस्पी पैदा कर दी और उस का अर्थ उत्सव में साधारण रूप से शामिल होने से कहीं अधिक था। किसी राठौर के हृदय में मुसलमानों के विरोध का जो राजपूती भाव देखा जाता था, चन्द्रसेन उस की साक्षात् मूर्ति था। प्रताप और चन्द्रसेन के बीच समझौता या यों समझिए राठौरों और सिसोदियों के बीच

तीसरा परिच्छेद

सन्धि का होना तत्कालीन राजपूत राजनीति में बड़ा भारी परिवर्तन ला सकता था। अकबर इस के महत्व को खूब समझता था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि गुजरात को जीतने के समय उसने विशेष प्रयत्न से अपनी फौज की एक बड़ी टुकड़ी जोधपुर और ईदर में ठहरा दी थी। इस प्रकार प्रताप और अकबर आमने सामने हुए। राजपूतों के स्वात्माभिमान और अकबर की साम्राज्य-विस्तार-लालसा की मुठभेड़ हुई। प्रताप के लिए इस का क्या अर्थ था यह हम अगले परिच्छेद में बतायेंगे। याद रहे कि इस समय मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर बैठना कोई पुष्प-शय्या पर बैठना न था। प्रत्युत यह बड़ा कठिन उत्तरदायित्व था, जो प्रताप के सिर पर आ पड़ा था। हमें शीघ्र ही मालूम हो जायगा कि प्रताप ने उस कर्तव्य को कैसी खूबी से निभाया।

———

तीसरा परिच्छेद

"सन् १५७२ ई० में भारतवर्ष की अवस्था, प्रताप के सामने दो विकल्प"

किसी पिछले प्रकरण में हम बता चुके हैं कि राणा साँगा का भारतवर्ष में राजपूत साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न किस प्रकार बियाना के युद्ध में नष्ट हो चुका था। बाबर अपने जीवन-काल में अपने जीते हुए प्रदेशों को संगठित न कर सका। और न उस के पुत्र हुमायूँ के भाग्य में ही इस कार्य में सफलता प्राप्त करना बदा था। हुमायूँ में उचित से अधिक उदारता थी। इसलिए उन तूफानी दिनों में वह एक बड़े साम्राज्य को अपने शासनाधीन रखने के अयोग्य था। इस के साथ ही उस के भाइयों का विश्वास-घात भी इस में आ मिला। जब शेरशाह ने बंगाल में बादशाह के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया तो उसे अन्तिम चोट पहुँची। २३ जून, १५३६ ई० को कन्नौज के युद्ध के बाद हुमायूँ भाग निकला। और राजपूताना और सिन्ध की मरुभूमि को पार कर के उसे ईरान का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। कुछ काल तक अपनी भूलों पर विचार करने के बाद उस ने

भाइयों को काबुल और कन्धार से निकाल दिया। इस के बाद ही उस ने अपनी शक्ति को इस योग्य समझा कि भारतवर्ष में अफ़गानों के विरुद्ध लड़ाई लड़े। विशेषतया इसलिये कि उस समय सूरवंश फूट के कारण छोटे छोटे दलों में बट गया था। अन्त में नवम्बर सन् १५५४ ई० में उस ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की।

उस बार एक राजपूत और इस बार एक बनिये के हाथ से हुमायूँ ने राज्य की बागडोर जो कि सूरवंश के हाथ से प्रायः निकल चुकी थी, छीनने का प्रयत्न किया। सरहिन्द में उस ने सिकन्दरशाह सूरी को १६ जून १५५६ ई० को परास्त किया। परन्तु एक दिन सायंकाल की नमाज़ मानों हुमायूँ के लिये मृत्यु का सन्देश लाई, और उसने दिल्ली में २७ जनवरी सन् १५५६ ई० को प्राण छोड़ दिए।

हुमायूँ के बाद उस का पुत्र अकबर सिंहासन पर बैठा। उसे हिन्दुस्तान के साम्राज्य के लिये घोर युद्ध करना पड़ा। यह काम हुमायूँ अधूरा छोड़ मरा था। हेमूँ[1] ने, जो कि एक

---

[1] हेमूँ (अलवर में राजगढ़ के निकट) मचेरी में पैदा हुआ था। उस का संबंध अग्रवालों की धूसर जाति से था। रिवाड़ी में उस ने शोरे की एक दुकान की थी। सलीमशाह के नीचे वह सरकारी चौधरी बन गया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ईमानदार आदमी था। इस के साथ ही उस में व्यापार बुद्धि भी खूब थी। इस से वह

दुकानदार की अवस्था से उठ कर आदिलशाह का प्रधान सेनापति बन गया था और इस समय दुआबे का वास्तविक स्वामी था, दिल्ली की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया। वह इतना तुच्छ न था जितना कि मुसलमान इतिहास लेखक अपने वर्णन में उस को दिखलाते हैं। जिस ने हुमायूँ के रणबांकुरे योद्धाओं को अपने सुदूर घरों की याद दिला दी, वह अवश्य ही बड़ा यशस्वी रहा होगा।

सलीमशाह की नजर में चढ़ गया, जिस ने अपने यहां उसे एक छोटे से काम पर लगा दिया। सलीमशाह की मृत्यु के अनन्तर आदिलशाह सूरी के गद्दी सँभालने पर हेमूँ की शक्ति बहुत बढ़ गई। वह उस का प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति बन गया। उस ने बंगाल के सूबेदार मुहम्मद खां सूरी को कपस घाट के स्थान पर हराया जहाँ कि वह मारा गया। उस ने फिर आदिलशाह के दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों को भी पराजित कर के अन्त में उसको भारत का एकमात्र स्वामी बना दिया। उस ने ऐसे ऐसे महान कार्य किये जो मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सकते। यद्यपि वह सदा रोगी और दुखी रहता था, और हाथी की पीठ पर बैठ कर इधर उधर जाता था। इतने पर भी उस ने बंगाल के शासक सुलतान मुहम्मद को हरा दिया था। आदिलशाह के शत्रुओं के साथ उस ने २२ लड़ाइयां लड़ीं और वह सब में विजयी रहा। उस ने राजा की पदवी ग्रहण की और अपने को 'विक्रमादित्य' कहलाया।

भारतवर्ष में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का यह दूसरा प्रयास भी ५ नवम्बर सन् १५५६ ई० को पानीपत के युद्ध में विफल हुआ। और अकबर बैरमखां के प्रताप से दिल्ली के सिंहासन पर निष्कण्टक राज्य करने लगा। कुछ काल अर्थात् सन् १५५६ ई० तक, बैरमखां ने शासन की बागडोर अपने हाथ में खूब कसकर पकड़ी। फिर तालवाड़ा में (पंजाब में होशियारपुर जिले के अन्तर्गत) बैरमखां ने अकबर की बढ़ती हुई महत्त्वाकाँक्षा के सामने सिर झुका दिया। इसके बाद कुछ काल तक स्त्रियों का शासन चलता रहा और अकबर ने सन् १५६४ में इससे छुटकारा पाया। अब अन्त को वह पूरा २ सम्राट् बन गया।

भारतवर्ष पर शासन करने के पहले अकबर के सामने दो समस्याएं थीं। एक ओर तो उसे भारतवर्ष के बड़े भाग को जीतना और उस विजय को दृढ़ करना था। दूसरी ओर मुसलमानों के राज्य के धार्मिक आदर्श से अलग भारत के लिए कोई नई शासन प्रणाली निकालनी थी। यद्यपि शासन करने के लिए भारत पर पहले विजय प्राप्त करना आवश्यक था, फिर भी राज्य का दृढ़ीकरण अकबर की शासन नीति ही पर निर्भर करता था। सैनिक छावनियां डालकर राज्य करने की रीति का क्रम सदा के लिये नहीं हो सकता। और खासकर एक ऐसे देश में जहाँ कि काफ़िरों को मुसलमान बनाने की कोई आशा न हो।

इस लिये उसने यही ठीक समझा कि दिल्ली के सिंहासन को दृढ़ करने के लिये मुसलमानी ढंग से शासन करना युक्ति संगत नहीं।

इन दो प्रश्नों को हल करने में अकबर जी जान से लग गया और थोड़े ही समय में उसे उनका हल भी मिल गया। उसने बुद्धिमानी से हिन्दुओं को भी राज्य-प्रबन्ध में स्थान देने का निश्चय किया। उसने इससे भी आगे पैर बढ़ाया। तदनुसार उसने अपनी हिन्दू और मुसल्मान प्रजा के बीच का अपमानजनक भेद-भाव मिटाकर बहुत से ऐसे विधान भी प्रचारित कर देने की आज्ञा दी जो इस्लामी शासन के विरुद्ध थे। उसकी मनसबदारों की पद्धति इतनी खुली थी कि उसमें हिन्दू भी आते थे। जिन ५०० या उससे अधिक सवारों के सेनानायकों का "आईने अकबरी" में उल्लेख है, उन में से ५६ हिन्दू थे। परन्तु इनके अन्तर्गत राजा टोडरमल, राजा भगवानदास, राजा मान-सिंह और बीकानेर के राजा रायसिंह जैसे प्रसिद्ध सेना-ध्यक्ष भी थे।

उसने विजित शत्रुओं के सामने बहुत नर्म शर्तें पेश करके, उनको साम्राज्य का कर-दाता मानकर तथा जीते हुए प्रदेश उन्हीं के पास रहने देकर अपनी प्रजा परायणता का नमूना पेश किया और अन्य कई प्रथाओं से उसने आत्मसमर्पण का मार्ग सरल कर दिया था।

इन विधियों तथा अपने वीर सेनापतियों की सहायता से १५७२ ई० तक अकबर ने भारत का एक बड़ा भाग जीत लिया। सिकन्दर को हरा कर उसे केवल पञ्जाब मिला था; सन् १५५६ ई० में पानीपत के युद्ध से वह द्वाबे का स्वामी भी हो गया। सन् १५५७ ई० में मेवात और अलवर सर हो गये। जम्मूं सन् १५५८ ई० में विजित और अधिकृत हुआ। ग्वालियर के राजा रामशाह को सन् १५५६ में राज्य से वंचित किया। रूपमती की प्रसिद्धि वाले बाज़बहादुर से मालवा उसे दुबारा जीतना पड़ा। मालवे की विजय के बाद गुजरात की भी बारी आ गई, और अन्त में मुजफ्फर शाह को भगा कर जान बचानी पड़ी।

राजपूतों में सब से पहले जोधपुर के राव मालदेव की गर्दन पर बादशाह का प्रहार हुआ। उसे सन् १५५८ ई० में अजमेर, नागौर और जितारन शाही सेनापतियों को सौंपने पड़े। सब से पहले आमेर (आज कल के जयपुर) के राजा भारमल ने अधीनता स्वीकार की। सन् १५५६ में ही वह सम्राट् को प्रणाम करने आया था। सन् १५६२ में अकबर ने राजा भारमल की कन्या से विवाह किया। यही कन्या आगे चल कर सलीम की माँ बनी। सन् १५६४ ई० में जोधपुर का राव चन्द्रसेन अपने राज्य से बाहर निकाल दिया गया और उसने शिवान के पर्वतों की शरण ली। चार बरस बाद मेवाड़ पर आक्रमण किया गया और कुछ महीनों के कठिन घेरे के बाद

२४ फर्वरी सन् १५६८ ई० को चित्तौड़ सर हो गया। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं। चित्तौड़ की विजय से मेवाड़ के मैदानों के एक बहुत बड़े भाग पर बादशाह का अधिकार हो गया। सन् १५६९ में बूँदी ने बादशाह के आगे सिर झुका दिया और २४ मार्च १५६९ को राव सुरजन ने रण-थम्भोर का किला सम्राट् को स्वयं अर्पण कर दिया। नवम्बर १५७० में जोधपुर में जोधपुर के राव चन्द्रसेन, बीकानेर के राव कल्याणमल और राव उदयसिंह राठौर ने, जो कि चन्द्रसेन का निर्वासित और अधिकार-च्युत पैतृक भाई था, नागौर में बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर प्रणाम किया और इन तीन में से दो ने वैवाहिक संबंधों द्वारा अपनी अधीनता को दृढ़ किया। बीकानेर से एक राजकुमारी, जो राव कल्याणमल की भतीजी थी, बादशाह के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई। उदयसिंह ने टीपू नाम की एक बाँदी के पेट से पैदा हुई राव मालवदेव की पुत्री रुक्मा बाई का ही डोला बादशाह को दिया और उसने जोधपुर के उत्तर पूर्व में फलोदी नाम का स्थान बादशाह को अर्पण किया।

इस के बाद जैसलमेर ने बादशाह के चरणों में सिर झुकाया। राजा भगवान दास के समझाने पर रावल हरराज ने अपनी बेटी जिस की सगाई पहले मेवाड़ के राणा उदयसिंह के साथ हो चुकी थी, अकबर के पास भेज दी। सन् १५७२ में सिरोही की बारी आई। खान-

कलाँ पर सिरोही के किसी राजपूत ने प्रहार किया था। बस इतने से सिरोही पर चढ़ाई करने का बहाना मिल गया। अपने को बादशाही फ़ौजों के साथ युद्ध करने में असमर्थ पाकर राजपूतों ने मैदानों को अपने शत्रुओं के लिए छोड़ दिया और आप भागकर पर्वतों की शरण ली।

जब प्रताप गद्दी पर बैठा तो जगमल ने जैसा कि पहले लिख चुके हैं, दिल्ली-दरबार की शरण ली और बादशाह के यहाँ नौकरी कर ली।

इस अधःपतित आत्मसमर्पण का यहाँ ही अन्त नहीं हुआ। अकबर की ख्याति भारतवर्ष के बाहर दूर दूर देशों तक पहुँच चुकी थी और विदेशी राजा इस बात में अपना गौरव मानते थे कि उन के दूतों को अकबर अपने यहाँ सम्मान-पूर्वक रखना स्वीकार करे। सुदूर ईरान और तूरान से कहीं अधिक प्राचीन वंशों के राज प्रतिनिधि पूर्व में उदय होते हुए इस सूर्य को सम्मानपूर्वक प्रणाम करने के लिए दौड़े आए थे।

अकबर इस सारी विजय और सम्मान का पात्र भी था। उसने अपनी सेना और नागरिक शासन को अभूतपूर्व रूप से संगठित किया था। उस के पास २५ हज़ार सैनिकों की सेना हर समय तैयार रहती थी। इसके अतिरिक्त उस की सहायता के लिये मनसबदारों के पास इस से भी कई गुना अधिक सिपाही थे। इस पर जो सुधार उसने अपनी

सेना में किये थे, उससे वह बड़ी प्रभावशाली बन गई थी। औरङ्गजेब की सेना की तरह यह अभी आलसी नहीं हो गई थी। इस के अतिरिक्त साम्राज्य की आय के साधन खूब व्यवस्थित थे। सन् १५९३ ई० में उस की मालगुजारी ३ करोड़ २० लाख पौण्ड की विशाल मात्रा तक पहुँच गई थी। उस समय जो रुपये का मूल्य था उस पर विचार करने से पता लगता है कि यह धन उससे कहीं अधिक था जितना कि यह ऊपर से देख पड़ता है। यह ठीक है कि सन् १५७२ से सन् १५९७ तक अकबर ने अपने राज्य का विस्तार किया, और मालगुज़ारी के महकमे को भी सुसंगठित किया, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि उस समय अकबर के पास जितने आ.मदनी के साधन थे, उतने पहले किसी राजा के पास नहीं थे।

इस प्रकार जब प्रताप ने मेवाड़ के राणा का पदग्रहण किया तब भारत का एक बड़ा भाग और उत्तरी भारत प्रायः सारा का सारा अकबर को अपना महाराजाधिराज और स्वामी स्वीकार कर चुका था। कामरूप से अहमदाबाद तक और काश्मीर से ग्वालियर और खानदेश तक पृथ्वी का कोई भाग ऐसा न था जो इस शक्तिशाली सम्राट् के सामने नतमस्तक न हुआ हो। राजपूत राजाओं में से जोधपुर बीकानेर के राठौर, जैसलमेर के भट्टी, जयपुर के कछवाहे, सिरोही के देवढ़े, मेवाड़ के सिसोदिये और बूंदी

के हाड़े सब दिल्ली के सिंहासन पर इस महान नरेश की विद्यमानता का अनुभव कर चुके थे। मेवाड़, बूंदी और सिरोही के सिवा ये सब रजवाड़े अपनी लड़कियों के डोले देकर बादशाह को अपना राजराजेश्वर मान चुके थे। इस समय जोधपुर के रावचन्द्रसेन और सिरोही के राव सुरतान केवल दो ही ऐसे राजपूत राजे थे, जो अब तक भी अकबर के सामने डटे हुए थे परन्तु उनके अधिक प्रदेश घटते घटते 'नहीं' के बराबर रह गये थे। ऐसी अवस्था में प्रताप क्या करता? क्या वह भी अधिकांश दूसरे राजपूतों के सदृश ही अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता? या वह राजकीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करके राव सुर-तान और रावचन्द्रसेन से मिल जाता? इससे पहले कि हम इस प्रश्न का उत्तर दें यह आवश्यक है कि हम इन दोनों विकल्पों का भली भाँति विवेचन कर लें।

जो राजपूत अकबर की अधीनता स्वीकार करते थे उन्हें अपना अधिकृत देश भी बादशाह के अर्पण करना पड़ता था, और फिर उस मनसब के लिये जिस पर वे नियुक्त किये जाते थे, वह उनको जागीर के रूप में वापिस दे दिया जाता था। उनका मनसब या राज दरबार में पद ऊँचा हो जाने पर उनके द्वारा शासित प्रदेश की सीमा वृद्धि भी होजाती थी। कभी कभी उनके मनसब के घट जाने पर उनकी जागीर में भी कमी कर दी जाती थी। सम्राट् इस बात का

ध्यान रखता था, कि राजपूत राजाओं के पास उनका अपना राज्य अवश्य रहे। तो भी सच्ची बात यह थी कि ये राज परम्परागत जागीरदारों से बढ़ कर और कुछ प्रान्तिक सूबेदारों तथा सम्राट् के दरबार में अपने प्रतिनिधि रखा करते थे। उनकी फौजें शाही दरबार के संकेत पर काम करती थीं। कभी कभी सम्राट् की ओर से और बहुत थोड़े अवसरों पर सूबेदारों की ओर से भी इन राज्यों के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप किया जाता था। ऐसे हस्तक्षेप से ये राजा कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। अकबर की नीति यही रहती थी कि इन सरदारों को या तो कहीं दूरदेश की चढ़ाइयों में लगाए रखा जाय, या अपने ही आगे-पीछे फिरने दिया जाय। यथासंभव उनको अपने राज्य में बहुत कम रहने दिया जाता था। अकबर उन राजाओं के एतिह्य और अधिकार के अनुसार उनके मनसब बढ़ाता रहता था, जिस से वे अपने निर्वासन को भूल जाते थे। जो राजा अपने आपको अकबर की शरण में लाता था उसके लिये यह अनिवार्य था, कि वह या तो स्वयं बादशाह के दरबार में रहे या अपने ज्येष्ठ पुत्र को वहाँ रहने दे। इन विविध रीतियों से अकबर इन अभिमानी राजपूतों को उनकी स्थितियों का याद दिलाया करता था। परन्तु दायभाग के संबंध की समस्याओं का निर्णय करने में यह काम बहुत ही महत्त्व-पूर्ण ढंग से किया जाता था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ये राजवाड़े

परम्परागत जागीरें थीं। लेकिन मुग़लों की शासन-पद्धति सिद्धान्त रूप से किसी भी पद के लिये यह नियम नहीं मानती थी। जब कभी कोई राजा मरता तो उसके उत्तराधिकारी को सरकार की ओर से एक सनद दी जाती थी, जिस के अनुसार उसके पिता या पूर्वाधिकारी की घरेलू भूमि उसको सौंपी जाती थी। यह रीति केवल विधान मात्र ही पूर्ण करने के हेतु न थी। सामान्य रीति यह हो गई थी कि जब किसी राजा की मृत्यु होती तो यदि उत्तराधिकारी दरबार में रहता हो तो अकबर उसके घर शोक प्रकट करने जाता और उसको एक सन्मान-सूचक खिलअत देता। इसके पश्चात् उसको एक सनद दी जाती, जिसके अनुसार वह जागीर का मालिक बनता था। यदि उत्तराधिकारी दरबार में मौजूद न होता तो यह कार्य किसी उच्च प्रतिनिधि को करना पड़ता था।

जागीर और मनसब का बना रहना बादशाह के इन अधिकार-पत्रों पर अवलम्बित होता था। स्वभावतः इस में अकबर के हाथ में एक बड़ी भारी शक्ति आ गई थी। यदि कोई उत्तराधिकारी उस की पसंद का न होता तो वह उस के मार्ग में कठिनाइयाँ खड़ी कर सकता था। कई एक अव-सरों पर सन् १५७२ के बाद अकबर सचमुच पिता के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य मिलने की प्रथा को या तो स्वयं बदल डाला था या परिवर्तन की आज्ञा दे दी थी। सन् १५९५ ई०

में जोधपुर के राजा उदयसिंह के बाद उस का छोटा बेटा सूरसिंह उत्तराधिकारी बना। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि इन राजपूत राजाओं की स्थिति सुखमय न थी। उन की भूमियां सिद्धान्त रूप से बादशाह की दी हुई जागीरें थीं। वे स्वयं बादशाह की आज्ञा से एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान में गेंद की तरह फेंक दिये जाते थे। उन की सेनायें और उन की शक्तियां सम्राट् की आज्ञा में रहती थीं, यदि सम्राट् की इच्छा हो तो वह उत्तराधिकार में भी परिवर्तन कर सकता था।

इस के साथ साथ एक और अलिखित आज्ञा भी थी। प्रायः सभी राजों ने जो अकबर की शरण में आए थे, अकबर या राजघराने के किसी दूसरे राजकुमार के साथ विवाह सम्बन्ध कर के राजकीय क्षमा का मार्ग सुगम बना रखा था। इस प्रकार जैसलमेर, बीकानेर और जयपुर ने अपने परम्परा के स्वाभिमान को दबा कर अपने घरानों की राजकुमारियां अकबर को दे दी थीं। जोधपुर ने अभी तक इस से कुछ ही अच्छा किया था। उस ने स्वर्गीय राव-मालदेव की बांदी से पैदा हुई पुत्री को अकबर के साथ ब्याह दिया था। लेकिन थोड़े ही दिन बाद मानवती (जोधाबाई) का विवाह सलीम के साथ कर के यह भी दूसरे रजवाड़ों में जा मिला। इस प्रकार बादशाह की शरण में आने पर सम्राट् के घराने में किसी न किसी के साथ विवाह सम्बन्ध करने की प्रथा सी बन गई थी। इन विवाह सम्बन्धों से

अकबर के हृदय में हिन्दुओं के प्रति विरोध की मात्रा घट गई थी। इन्हीं सम्बन्धों के फलस्वरूप अकबर अपने राज्य के कोने कोने में यह घोषणा करा देने के योग्य हुआ था, कि भारतवर्ष में वह हिन्दू और मुसलमान दोनों की वरन् हिन्दुओं की अधिक संख्या का सम्राट् है। अकबर के इन प्रयत्नों के जो कारण प्रत्यक्ष हैं उन को छोड़कर निन्दनीय कारण ढूँढने की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु राजपूतों का भी यह सन्देह कि इस प्रकार अपने आप को गिरा रहे हैं निराधार न था। संसार के इतिहास के मध्यकाल में राज्यशक्ति राजाओं के व्यक्तिगत गुणों पर अवलम्बित थी। प्रश्न होता है कि क्या इस बात का कोई निश्चय था कि धार्मिक आज्ञाओं के विरुद्ध अकबर ने जो लौकिक शासन-पद्धति ग्रहण की थी, वह आगे भी जारी रह सकेगी ? इसका आधार किसी अवस्था पर न था। यह समय की परिस्थितियों पर निर्भर करती थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि अकबर मृत्यु के पश्चात् आधी सदी तक भी यह राज्य प्रणाली स्थिर न रह सकी राजपूत राजे अपने मन में यह सोचते थे, यद्यपि उनका ऐसा सोचना था निरर्थक ही, कि एक जीवन अवस्था या पीढ़ी के ही नहीं, वरन् शताब्दियों के बनाए हुए नियमों को क्या एक सम्राट् के विचित्र विचारों के लिए चाहे वे कितने ही सद्भाव

पूर्ण क्यों न हों छोड़ देना बुद्धिमत्ता है? जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उन का ऐसा सोचना नितान्त निरर्थक था, क्योंकि अधिकांश राजपूत राजे सम्राट् की इच्छाओं का विरोध न कर सके। तो भी राजपूतों का इन विवाह सम्बन्धों को आपत्तिजनक समझना बन्द न हुआ।

राजपूतों में यह कहावत चली आती है कि अकबर मुसलमान शहज़ादियों का विवाह भी राजपूत राजकुमारों के साथ करना चाहता था, क्योंकि वह सोचता था कि भारत में मुसलमानों के शुद्ध और ऊँचे घराने इतने नहीं थे कि जिन में सम्राट् के घराने की राजकुमारियां ब्याही जा सकें। परन्तु कहा जाता है कि राजपूत डरते थे, कि मुसलमान राजकुमारियों का प्रवेश हमारे अन्तःपुर में हो जाने से, हमें जाति-पाँति के बन्धनों को भी तोड़ना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने केवल अपनी ही लड़कियाँ बादशाही राजकुमारों को देना स्वीकार किया। संभवतः इन विवाह-संबन्धों से होने वाली लज्जा को ढकने के लिये यह पारिवारिक भाटों की गढ़ी हुई कल्पित कहानी है, परन्तु इस बहाने का होना इस बात को ज़रूर प्रमाणित करता है कि कोई बहाना बनाना आवश्यक समझा गया था।

इस विश्वास को फैलाने का दायित्व कर्नल टाड पर है कि जो राजपूत राजे अकबर की अधीनता स्वीकार करते थे, उनकी राजकुमारियों के लिये मीना बाज़ार में जाना आवश्यक

होता था। इससे भी राजपूत रुष्ट हो सकते थे। परन्तु प्रतीत होता है, कि तब मीना बाज़ार जारी नहीं हुआ था। राजपूतों की और भी कई छोटी छोटी बातें अपमान जनक जान पड़ती थीं। परन्तु उन्हें वे सब सहनी पड़ती थीं। उदाहरणार्थ बादशाही डेरे पर पहरा देना, दरबार में खड़े रहना, और अपने बाजों को बन्द करना, यह सब राजपूतों के स्वाभिमान के लिये चुभते हुये काँटे थे। परन्तु राजपूत राजे यदि चाहते तो इन से बच भी सकते थे, जैसा कि बूंदी के हाड़ों ने किया था। इन सब बातों का करना प्रताप के लिये भी आवश्यक था। उस के लिए ज़रूरी था कि पहले वह मेवाड़ को सम्राट् के अधीन कर दे और फिर जागीर के रूप में उस से वापिस पाये। बादशाही दरबार में स्वयं रहे या अपने ज्येष्ठ पुत्र को वहाँ रहने दे। मेवाड़ के राजघराने की एक राज-कन्या का विवाह बादशाही घराने में किसी के साथ करे। थोड़े शब्दों में यों समझिए कि वह अपने परिवार की स्वाधीनता को कल के उन्नतिशील लोगों के अधीन करके अपने सिद्धान्तों का बलिदान कर दे। इसके बदले में उसको प्रत्येक सम्मान मिलता, जैसा कि उस के पोते कर्ण को मिला था, और सम्भवतः वह देश में सब से बड़ा मनसबदार भी बन जाता। वह ऐश्वर्य और विलास में अपना समय व्यतीत करता, और बादशाही दरबार में उपस्थित रहने का बंधन भी उस

पर से उठा लिया जाता तो मेवाड़ फिर पहले की भाँति धन-धान्य से भरपूर हो जाता। वहाँ के राजकुमार मुग़ल-सम्राट् के दरबारियों में किसी से भी कम न होते; वे सुख-विलास की गोद में पलते और उन को जीवन का आनन्द सुलभ होता।

परन्तु इस के विपरीत दूसरा कौन सा मार्ग था? यदि था तो यही कि वह शिकारी कुत्तों के आगे हिरनी की तरह बनों में भागा भागा फिरे। यह काम कितना कठिन था और इस से प्रताप के हृदय में इस भाव की जागृति रहती कि वह शताब्दियों की मान-मर्यादा की रक्षा कर रहा है तथा अपने पितामह साँगा की भाँति, मुग़ल-सम्राट् रूपी उदीयमान नक्षत्र के सामने नत-मस्तक नहीं हुआ तथा स्वतन्त्रता देवी की पूजा एक छोटी सी झोपड़ी में भी की जा सकती है।

प्रताप ने इन दो विकल्पों में से अपने लिये कौन सा चुना यह हम अगले परिच्छेद में बतायँगे।

चौथा परिच्छेद

परीक्षा ।

प्रताप के गद्दी पर बैठते ही अकबर के लिये उसके राजपूताने के प्रति नीति का प्रश्न और भी गहन हो गया। हम पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि राव चन्द्रसेन की मौजूदगी राजपूताने में ठहरी हुई बादशाही फ़ौजों के लिये अशान्त दिनों का अपशकुन थी। ऐसी परिस्थिति में अकबर क्या करता? मेवाड़ का एक बड़ा भाग और चित्तौड़ उस के हाथ में था। उन प्रदेशों में सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने के लिए उसने भरसक यत्न किया था। भूमि माप ली गई थी और उस की मालगुजारी बंध चुकी थी। वह २४ ज़िलों में बाँटी गई थी और उस पर ७५११६१ रुपये लगान लगाया गया था। पर लगान कभी पूरा पूरा वसूल भी हुआ या नहीं, यह हम ठीक २ नहीं कह सकते। एक बड़ी मनोरञ्जक बात जो हमें 'आईने अकबरी' में मिलती है वह यह है कि भूमि का एक बड़ा धर्मार्थ भाग अलग कर दिया गया था। अकबर ने राज्य का पुनर्निर्माण करने के लिये घोर प्रयत्न किया था। यहाँ तक कि राज्य के मोहन और रामपुर नामक दो ज़िलों के नाम बदल कर इस्लामपुर रख दिये थे। जिस समय 'आईने

अकबरी' लिखी गई थी उस समय तक भी २४ ज़िलों में से ७ ज़िलों की भूमि का माप नहीं हो पाया था। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रदेश के सभी भागों में उसकी पहुँच संभव नहीं थी। ऐसा जान पड़ता है कि उसने बुधनौर, टोहलिया, खेबरा, पुर, और भीम सरोवर के ज़िलों में बाहर से ले जाकर मुसलमानों को बसाने का प्रयत्न किया था। इसका प्रमाण यह है कि केवल इन्हीं जिलों में ज़मीनें वक़्फ़ या धर्मार्थ दी गई थीं।

परन्तु इस नई समस्या को हल करने की कोई जल्दी न थी। उस समय तो अकबर को गुजरात पर धावा बोलने की धुन लगी थी और उसे कोई ऐसा कारण दिखाई नहीं देता था जिस से वह अपने इस काम को स्थगित करता। लेकिन गुजरात का मार्ग राजपूत रजवाड़ों में से होकर था और मेवाड़ भी मार्ग में ही पड़ता था। बीकानेर के तत्कालीन राजा कल्याणमल के पुत्र राजा रायसिंह को बादशाही सेनाओं का मार्ग साफ़ करने के उद्देश्य से जोधपुर भेजा गया। उस समय की परिस्थिति देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि सारे बादशाही अफसरों को आज्ञा दी जाय कि रायसिंह को जब भी और जैसी भी सहायता की आवश्यकता हो वे तत्काल देने के लिये प्रस्तुत रहें। क्योंकि भय था यदि विशेष उपाय किया गया तो कहीं राणा प्रताप राजकीय सेवा के आवागमन का सिलसिला ही न काट दे।

सारांश, अकबर ने इस के लिए जो जो प्रबन्ध किए उन
यह साफ प्रकट होता है कि अकबर अपने शत्रु की शक्ति
भली भाँति परिचित हो चुका था। प्रताप ने इस समय अप
प्राचीन सिसोदिया अधिकार को जतलाने के लिए ए
वीरोचित बाज़ी लगाई। सरोही में गृहविद्रोह के बाद उस
अपने ममेरे भाई के लड़के कल्ला को सरोही का राव नियुक
कर दिया। यह बात अकबर को बहुत उत्कट अवज्ञा जान प
होगी। वह समझता था कि कहीं भी आपस के झगड़े हों, उ
से लाभ उठाना मेरा अधिकार है। सम्भवतः यही कार
था, जिससे राजा मानसिंह ने, जो कि गुजरात जाने वाल
सेना के साथ था, प्रताप के साथ समझौता करने का य
किया। ऐसा प्रतीत होता है कि राणा प्रताप के कुछ सरदा
ने उस का आदर-सत्कार भी किया। परन्तु उसको इस का
में सफलता प्राप्त न हुई।

परन्तु यह काम कार्यसिद्धि का सीधा मार्ग न था। इ
से यह स्पष्ट नहीं होता कि अकबर प्रताप के हठीलेपन
पैदा होने वाली असली समस्या को कैसे हल करना चाहत
था। सम्भवतः अकबर ने भेद लेने के लिए ही रायसिंह क
जोधपुर का सूबेदार बनाया था। अकबर प्रताप को किस
निश्चय पर पहुँचने के लिए समय देना चाहता था। कुछ भ
हो राणा इतनी जल्दी बादशाही फौजों से मुठभेड़ करना भ
नहीं चाहता था। उसको अभी अपनी शक्ति को दृढ़ बनान

था और अपने लिए एक निश्चित मार्ग भी तय करना था। इसके पहले कि वह अपने भाले से मुग़लों की या मुग़लों की सहायता में उठी हुई ढाल पर चोट करता, उसको उन पहाड़ी ज़िलों के भीतरी शासन की समस्या को भी हल करना था, जो मेवाड़ के गौरव के खँडहरों के रूप में अब तक भी उसके पास थी। उसने शीघ्र ही अपने देश के साधनों को संभालने का निश्चय कर लिया। उसने अपने राज्य के शासन में सुधार किया और सम्भवतः मुग़लों का अनुकरण करते हुए अपने समीप रहने वाले विभिन्न सरदारों के पद निश्चित कर दिए। उसने अरावली के भीलों को अपनी रक्षा का अन्तिम दुर्ग बनाया और उनके साथ अच्छे सम्बन्ध जोड़ कर उसने उनको अपनी ओर और भी अच्छी तरह आकर्षित कर लिया। एक बात वह अच्छी तरह समझता था कि मेवाड़ शीघ्र ही मुग़लों के ध्यान को अपनी ओर खींचेगा परन्तु उस की कदापि यह इच्छा न थी कि वह किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुग़लों को उसके प्यारे मेवाड़ में पांव जमाने में सहायक हो। इस उद्देश्य से उसने कड़ी आज्ञा निकाल दी कि मैदानों के सारे खेत उजाड़ दिये जायँ। एक बीघा भी चरागाह और कोई भी खेत खड़ा न रह जाय। यदि मुग़ल आवें तो उनको आने पर मालूम हो कि इस देश में कुछ नहीं है, और उनको अपनी रसद के लिये बाहर वालों पर ही अवलम्बित रहना पड़े। इस से उनकी दशा और भी जटिल

हो जायगी तथा रसद लानेवालों पर राजपूत आसानी से आक्रमण कर सकेंगे। इस आज्ञा का पालन पूरी तरह से कराया गया। समय समय पर राणा स्वयं पहाड़ी से नीचे उतर कर देखता था कि उसकी इस आज्ञा का कहाँ तक पालन हो रहा है। ऐसे अवसरों पर अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था, ताकि दूसरे लोगों के हृदय में आज्ञा का उल्लंघन करने का विचार समूल नष्ट हो जाय। इस प्रकार मेवाड़ में सारी हरियाली का नाश कर दिया गया, ताकि कहीं मुग़लों के लिये एक दाना भर अनाज या उनके घोड़ों के लिये पेट भर घास भी कहीं न मिल सके। यदि मेवाड़ को स्वतन्त्रता अपेक्षित थी तो उसकी वेदी पर यह एक आवश्यक बलिदान था। उसके लिये और उसके अनुगामियों के लिये पर्वतों के दुर्गम भागों में अब भी पर्याप्त भोजन बाकी था।

गुजरात के धावे में अकबर को सफलता प्राप्त हुई। सुलतान मुज़फ्फर १७ नवम्बर सन् १५७२ को बन्दी बनाकर सम्राट् के सामने लाया गया। अकबर कुछ काल तक गुजरात में ठीक प्रबन्ध करने के लिए ठहरा रहा। उसके बाद एप्रिल १५७३ तक वहाँ की अवस्था भी अच्छी हो गई और गुजरात के भावी शासन का सारा प्रबन्ध हो गया। १४ एप्रिल सन् १५७३ को अकबर अहमदाबाद से आगरे को चला आया और मानसिंह तथा दूसरे राजकीय सेनापतियों की अध्य-

चता में एक बड़ी सेना ईदर, डूँगरपुर और दूसरी पड़ोसी रियासतों में काम करने को छोड़ आया। नियम के अनुसार इन बादशाही सेनापतियों को आज्ञा थी कि पहले तो वे इन राजाओं को शक्तिशाली सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने की प्रेरणा करें और इस में असफल होने पर अपने सैनिक बल से उनको जीत लें। ईदर का राजा नारायणदास प्रताप का श्वसुर था और डूँगरपुर का रावल आसकरण सिसोदिया। यह मुहिम मुख्यतया इन्हीं के विरुद्ध भेजी गई थी। विचार यह था कि पहले प्रताप के सहायकों को उस से छीन लिया जाय। यदि ये राजे सम्राट् के शरणागत हो जायँ जिसकी कि आशा न थी तो शायद प्रताप भी उनके उदाहरण का अनुकरण करने के लिए उद्यत हो जाय। दूसरी अवस्था में उनके परास्त हो जाने से प्रताप की शक्ति का कमज़ोर हो जाना अवश्यम्भावी थी।

मानसिंह ने अब अपनी शक्ति की परीक्षा करने का निश्चय किया। स्वतन्त्र राजपूत राज्यों का होना अकबर की शरण में आये हुए राजपूतों के लिये कलङ्क का टीका और उनका स्पष्ट अपमान था। इस लिये वे उनकी स्वतन्त्रता का अन्त करने के लिए सदा बहुत ही यत्नवान रहते थे। मानसिंह ने एक नव मुस्लिम की तरह बड़े ज़ोश के साथ डूँगरपुर पर आक्रमण किया और घोर युद्ध के बाद उस पर विजय पाई। रावल आसकरण पहाड़ों में भाग गया और

उसके देश को लूट लिया गया।

इस प्रकार प्रताप की शक्ति पर आघात हुआ या यों कहिये कि उसका एक हाथ काट दिया गया। परन्तु उस के साथ बर्ताव अच्छा हुआ। बिना विशेष आज्ञा पाये कोई भी प्रताप से लड़ाई लेने का साहस न कर सकता था। इस लिये मानसिंह ने सम्राट् का दूत बनकर जाने के बजाय एक राजपूत के रूप में ही उदयपुर जाने का निश्चय किया। वह गुजरात से आगरे जा रहा था और मेवाड़ उसके रास्ते में पड़ता था। उसका कर्तव्य था कि राजपूत जाति के सिरमौर प्रताप के यहाँ प्रणाम करने जावे और विशेषतः इस लिए भी कि हाल ही में उसका राज्याभिषेक हुआ था। अकबर भी इन रीति-विरुद्ध भेंटों के द्वारा अपने प्रति राणा के भाव भाँपना चाहता था और उस को वशीभूत करने के लिये किसी सुअवसर की प्रतीक्षा में था। इस कारण मानसिंह ने अपनी सेना का बड़ा भाग अजमेर की तरफ़ फेर दिया और थोड़े से सहचरों के साथ जून १५७३ में उसने मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया।

मानसिंह यथासमय उदयपुर पहुँच गया। राणा प्रताप ने बड़े सौजन्य के साथ उसका स्वागत किया। एक राजपूत के रूप में, चाहे अब वह बादशाह का नौकर ही था, मानसिंह को सीसोदिया सरदार से मिलने आने के कारण आतिथ्य पाने का अधिकार था यह बात प्रताप जैसा वीर पुरुष

नहीं भूल सकता था। इस लिए मानसिंह का यथोचित आदर सत्कार किया गया परन्तु वह कैसा मिलन रहा होगा। मानसिंह भारतवर्ष के बहुमूल्य रत्नाभूषणों से सुशोभित था। वह उस प्रसिद्धि से फूल रहा था जो राजकीय सेवा में होने से फैल चुकी थी और भारत के कोने कोने में गूँज रही थी। वह सम्राट् का भतीजा और युवराज का ममेरा भाई था। एक बड़ी राजकीय सत्ता का नौकर था। उसकी वीरता का वर्णन नहीं हो सकता था और उसका साहस औचित्य का उल्लङ्घन कर रहा था। उधर प्रताप कैसा था? उसकी परीक्षा अभी होने को थी? परन्तु ऐसे चिह्नों की कमी न थी जो बताते थे कि दोनों में कुछ बातों का अन्तर ज़रूर है। यदि मानसिंह वीर था तो प्रताप विक्रान्त? जहाँ कछवाहा साहसी था, वहाँ गहलोत में साहस के साथ स्वतन्त्रता का भाव भी मिला हुआ था। यदि मानसिंह ने सैकड़ों घोर युद्धों में कीर्ति पाई थी, तो प्रताप ने अपनी क्षमताओं को किसी मनुष्य की दासता से, चाहे वह सम्राट् की हो और चाहे राजा की अभी तक कलंकित नहीं किया था। मानसिंह का परिवार सब से पहला परिवार था जिसने अकबर के साथ विवाह-सम्बन्ध जोड़ कर अपने वैभव को बढ़ाया था। मेवाड़ के सीसोदियों के लिए किसी ऐसी बात का अभी तक संकेत भी नहीं हुआ था। यद्यपि मेवाड़ के राज-घराने के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के

लिये अकबर बहुत उत्सुक था और इसे अपने लिये गौरव की बात समझता था। राजपूतों का पहरावा चटकीला भड़कीला बहुत कम होता है। परन्तु प्रताप के लिये तो इस हीन दशा में जब कि उसका पैत्रिक राज्य भी घट चुका था मेवाड़ का पूर्व वैभव दिखलाना भी दुस्तर था। कितना बड़ा अन्तर था! राजाओं की भाँति आभूषणों से सुसज्जित मानसिंह और हीन वेषधारी प्रताप! चरम कोटि के विलास के सामने कठोरता स्वतन्त्रता का संघर्ष था! कल के बने हुए चिकने-चुपड़े दरबारी के सामने प्राचीन दृढ़ राजपूत शिला का एक खण्ड था! कछवाहे के सामने सीसोदिया था!

वे दोनों मिले। उस मिलन में जो कुछ हुआ इस के जो वर्णन मिलते हैं वे एक दूसरे से भिन्न वरन् परस्पर विरोधी हैं। दरबारी इतिहास लेखक अबुलफ़ज़ल हमें विश्वास कराना चाहता है कि राणा ने प्राय: अधीनता स्वीकार कर ली थी। वह बादशाही राजदूत से गोगुन्दा के फाटक के बाहर आ कर मिला। सम्राट् की आज्ञा को स्वीकार किया। उसकी भेजी हुई 'खिलअत' को धारण किया। और मीठी मीठी बातों द्वारा मानसिंह को टाल दिया। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अपने आत्म-वृत्तान्त में सन् १६१४ में राणा अमरसिंह की हार का उल्लेख करते हुए जहाँगीर इस बात को बिलकुल भूल जाय कि आरम्भ में भी मेवाड़ के राणाओं ने अधीनता स्वीकार की थी! सर टामसरो उस समय वहीं

मौजूद था। वह भी यह मानता है कि मेवाड़ के राजाओं ने, जिन को वह पुरु का वंशज बतलाता है, इस के पहले सम्राट् की अधीनता कभी स्वीकार नहीं की थी। रैल्फफिञ्च भी स्पष्ट शब्दों में कहता है कि राणा ने इस के पहले कभी अपने गर्वीले सिर को नहीं झुकाया था। इस के अतिरिक्त नूरुलहक हल्दीघाटी पर अकबर की चढ़ाई का वर्णन करते हुए लिखता है कि राणा अपने दिन विद्रोह में बिता रहा था। 'तारीखे बादशाहाने तैमूरी' का लेखक इस विषय में बड़ी चौकसी के साथ मौन साधे हुए है। डे लाईट, फरिश्ता और खाफीखां आदि सब इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कुछ भी नहीं कहते! ऐसा जान पड़ता है कि अबुलफज़ल मानसिंह की असफलता के कटु सत्य को लिखना नहीं चाहता था और जैसा कि और कई अवसरों पर भी हुआ है उस ने लज्जा को छिपाने के लिए झूठ ही कह दिया है।

हमारी समझ में तो इस सम्मिलन के जो वर्णन राजपूतों ने दिये हैं वे अधिक विश्वास के योग्य हैं, उन में असम्भव कम प्रतीत होते हैं। प्रायः ये सब वर्णन इस विषय में एकमत हैं। मैहता नैणसी, राजप्रशस्ति और जयसिंह चरित ये सब समुचित विस्तार के साथ इस सम्मिलन का वर्णन करते हैं।

राणा ने उदयसागर झील पर मानसिंह के स्वागतार्थ एक बड़ा भारी भोज दिया। सब सरदार इस जगह पर

उपस्थित हुए। कुंवर अमरसिंह ने भोज के समय अतिथि-सत्कार का कार्य अपने हाथ में लिया। मानसिंह चाहता था कि उसे प्रताप के साथ बैठ कर भोजन करने का गौरव प्राप्त हो, परन्तु प्रताप ने यह कह कर मानसिंह के साथ भोज में बैठने से इन्कार कर दिया कि मेरे पेट में कुछ गड़बड़ है। मानसिंह इस बहाने को भाँप गया। उसने तुरन्त अनुमान कर लिया कि अम्बेर और अकबर के परिवारों का विवाह सम्बन्ध ही प्रताप के न आने का वास्तविक कारण है। उसके लिए यह बात कोई विशेष रुचिकर न थी कि उसे याद दिलाया जाय कि 'अम्बेर की एक राजकुमारी मुग़ल घराने में ब्याही गई है' और फिर यह स्मरण भी कोई ऐसा मनुष्य दिलाये जिसके सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई हलका सा ताना भी न दिया जा सकता हो। मानसिंह ने एक संक्षिप्त सा उत्तर दिया। उस से मेवाड़ पर आक्रमण की धमकी टपकती थी। इस बार मानसिंह का निशाना अपने स्थान से दूर पड़ा। प्रताप के भोज में सम्मिलित न होने से अम्बेर के घराने पर अप्रत्यक्ष रूप से कुछ लांछन ही आता था, परन्तु अब तो राणा ने तुरन्त ही उत्तर दिया कि मानसिंह चाहे अपनी इच्छा से आयें और चाहे अपने फूफा अकबर की आज्ञा से, उनका सदैव यथोचित सत्कार किया जायगा। कुछ और भी कठोर शब्द मानसिंह और सिसोदिया सरदार भीमसिंह ने एक

दूसरे से कहे। भीमसिंह ने यह भी प्रतिज्ञा की कि जब भी मानसिंह के आने की इच्छा होगी उसके हाथी पर वार भीमसिंह ही करेगा। अब मानसिंह को विदा लेने की आवश्यकता न थी। अन्नपूर्णा देवी की पूजा करके बिना कुछ खाये ही वह आगरे[1] को चल दिया।

मानसिंह के प्रस्थान के पश्चात् प्रताप ने आज्ञा दी कि भोज के स्थान को पवित्र किया जाय। जो भोजन परोसा गया था वह सब सोने और चाँदी के थालों समेत सरोवर में फेंक दिया गया। वह सब जगह जहाँ भोजन परोसा गया था अच्छी तरह खोद डाली गई। विश्वास यह था कि कहीं ज़रा सा धब्बा भी न रह जाय ताकि कठोर स्वतंत्रता का तिरस्कार करने वाले राजपूत की अपवित्रता

१—राणा सों भोजन समय कही मान निज बान।
हम क्यों जैंवे आप हूँ जैवंत हो किन आन॥
कुंवर आप आरोगिय राजा भाख्यौ हेरी।
मोहि गरानी कछु अबै मैं जैइंहुं कछु केरी॥
कही गरानी की कुंवर भई गरानी जोहि।
अटक नहीं कर देहुँगे तूरण जूरण तोहि॥
दियो ठेल कांसो कुंवर, उठे सहित निज साथ।
चुलू आन भरि हौं कह्यौ पौंछ रुमालन हाथ॥

—जयसिंह चरित।

मेवाड़ को कलंकित कर सके। ऐसे मनुष्य को आतिथ्य-दान देने से जो पाप हुआ था उसका कलंक धोने के लिये उस स्थान पर पवित्र गंगा-जल डाला गया। प्रत्येक राजपूत माता के स्वाभिमानी पुत्र ने, जो उस भोज में निमन्त्रित होकर आया था, स्नान किया और अपवित्र स्पर्श को दूर करने के उद्देश्य से अपने कपड़ों को बदला। राजपूतों में सौजन्य और सम्मान का ऐसा ही भाव था। जब तक मानसिंह वहाँ रहता रहा सब से बड़े सम्मान को छोड़ कर उसका और सब प्रकार से सत्कार किया गया। परन्तु जब वह चला गया तो राजपूतों की परम्परागत रीतियों ने उस सारे प्रायश्चित्त का करना आवश्यक कर दिया जो उस समय किया जा सकता था।

राणा के यहाँ जो घटना घटी, मानसिंह ने वह सब सम्राट् को जाकर सुना दी। यह कहना कठिन है कि अकबर ने इस घटना को कैसा माना। उसके महान शत्रु ने जो गर्वित भाव दिखलाया था उस से वह प्रसन्न हुआ या अम्बेर वंश के साथ अपने सम्बन्ध की इस प्रकार निन्दा और हँसी होते देख कर उसे क्रोध आया। कुछ भी हो, जिस झगड़े में मानसिंह ने अपने आप को इतनी शीघ्रता से उलझा लिया था, उसको सुलझाने में अकबर ने उतावली प्रकट नहीं की। वह अब भी प्रताप को प्रलोभन देकर अपने वश में करना चाहता था। इस उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर उसने

राजा भगवानदास को मेवाड़ के स्वाभिमानी राजा के यहाँ फिर जाने को कहा। सम्राट् की साहसिक यात्रा के बाद अहमदाबाद से राजा भगवानदास राजधानी को वापिस आ रहा था। अहमदाबाद अब अन्त में सर हो गया था। प्रताप के श्वसुर ईदर के राजा नारायणदास ने इस बार सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस समाचार से प्रसन्न होकर राजा अक्तूबर १५७३ में गोगुन्दा में प्रताप से भी मिला। मानसिंह की पहले की मुलाकात ने अपना काम किया था। इसलिये इस बार राणा ने अधिक संकोच और अधिक स्वाभिमान दिखलाया। अबुलफज़ल हमको फिर विश्वास दिलाना चाहता है कि राजा भगवानदास को मानसिंह से भी अधिक सफलता प्राप्त हुई और युवराज कुँवर अमरसिंह राजा भगवानदास के साथ दिल्ली आया। परन्तु राणा ने फिर मौके को टाल दिया। लेकिन जहाँगीर अपनी आत्मकथा में बड़े जोर से कहता है कि अमरसिंह कभी भी मुग़ल दरबार में नहीं आया था। जहाँगीर की इस बात पर विश्वास न करने के लिये इस बादशाही इतिहास-लेखक का कथन पर्याप्त नहीं। रो जिसके बचन हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, ज़ोरदार शब्दों में कहता है कि अभिमानी सीसोदियों ने मुग़ल सिंहासन के सामने कभी सिर नहीं झुकाया। फिर इस बात का भी उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि अमरसिंह या प्रताप को पराधीनता स्वीकार करने के बाद कोई मनसब ही

मिला है। यदि प्रताप ने इस बार अधीनता स्वीकार कर ली थी तो हमें पता नहीं लगता कि वे कौन से कारण थे जिन से सम्राट् ने जल्दी ही मेवाड़ पर आक्रमण किया। हमको एक बार फिर ऐसा जान पड़ता है कि यह वास्तविक ऐतिहासिक सत्य न होकर केवल एक ऐसा मीठा स्वप्न था जिसकी अबुलफ़ज़ल बड़ी भक्ति से कामना करता था। स्वाभिमानी राणा ने भगवानदास को भी पहले की भाँति योंही टाल दिया। उसने उसके साथ भोजन करना स्वीकार न किया और भगवानदास अपना सा मुँह लेकर लौट आया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर इस मनुष्य को भली भाँति जानता था। मानसिंह अभी अपना अपमान भूला न था और भगवानदास के गोगुन्दा में लगे हुए शब्द-बाणों के घाव अभी भरने न पाए थे कि दिसम्बर सन् १५७३ में राजा टोडरमल राणा से मिलने मेवाड़ गये। पुराने राजपूती ऐतिह्यों के अनुसार दो कछवाहे सरदारों का तो भला यह कर्तव्य ही था कि जब वे राजपूतों के मुखिया के इलाके के निकट हो कर निकलें तो उस का दर्शन करते जायें। परन्तु पंजाब का यह खत्री, जो भले ही प्रताप की गौरव-रक्षा पर प्रसन्न होता हो, उससे मिलने के लिए किसी भी प्रकार बाध्य न था। वह गुजरात में भूमि की मालगुज़ारी का हिसाब ठीक करने के लिए पीछे रह गया था। वहां से लौटते समय वह मेवाड़ गया। टोडरमल ने बाद को अर्थ-सचिव

के रूप में जो प्रसिद्धि प्राप्त की वह अभी उसे नहीं मिली थी और अकबर का प्रधान मंत्री तो वह बहुत देर बाद बना, फिर भी वह शान्ति और युद्ध में इतनी ख्याति प्राप्त कर चुका था कि सम्राट् की ओर से प्रताप के यहाँ बिना बुलाए जा सकता था। उस को एक फायदा भी था। सम्राट् के साथ उसका कोई व्यक्तिगत संबन्ध न था। वह केवल राज्य का एक उच्चकर्मचारी था। हमें निश्चय है कि इन सब बातों ने राणा को, जो स्वभाव से ही सज्जन था, उसका पहले से अच्छा स्वागत करने की प्रेरणा की होगी। परन्तु जब बादशाह के मतलब की बात आई तो टोडरमल की कुशाग्र बुद्धि और नीति के शब्द प्रताप को अपने निश्चय से ज़रा भी न हिला सके। सम्भवतः टोडरमल अपने हृदय में राणा के प्रति एक गहरा आदर भाव लेकर लौटा।

इन राजकर्मचारियों का बारबार प्रताप से मिलने जाना और विफल-मनोरथ लौटना इस बात का प्रथम चिह्न है कि अकबर राणा को शाही दरबार में लाने के लिए कितना बेचैन था। प्रताप के स्वतन्त्र होते हुए भारतवर्ष का सारा साम्राज्य उसकी नज़रों में तुच्छ था। एक तो भूमि-पति अकबर दूसरा हिन्दूपति प्रताप। सम्राट् को चित्तौड़ की पिछली लूट से जो अनुभव हुआ था उस के पश्चात् वह मेवाड़ को मुहिम भेजना बहुत पसंद नहीं करता था। राज-पूतों के पवित्र प्रदेश मेवाड़ पर चढ़ाई करना कोई हंसी

खेल न था। और फिर मानसिंह और भगवानदास के विषय में वह क्या कहे? जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि हल्दी घाटी के युद्ध के पीछे भी प्रताप के विरुद्ध उनका कभी विश्वास न किया जाता था। इससे यह बात स्पष्ट थी कि जब तक प्रताप के दरबार में उनका स्पष्ट अपमान न हो तब तक मेवाड़ पर चढ़ाई करने की सम्भावना और भी कम थी। अकबर जानता था कि सम्भवतः प्रत्येक राजपूत के हृदय में मेवाड़ के प्रति प्रेम है। इस का अर्थ यह था कि राजपूतों में से अनेक उस मर्यादा के साथ सहानुभूति रखते थे जिस की रक्षा के लिए राणा तुला हुआ था। यह भी हो सकता है कि अकबर ने दोनों पक्षों के चरित्र को भली भाँति जानते हुए मानसिंह और भगवानदास को जान बूझकर मेवाड़ भेजा हो। कछवाहे और सीसोदिया के बीच झगड़ा हो जाने का उसे विश्वास था। और भगवानदास और मान-सिंह के हृदय में मेवाड़ पर चढ़ाई करने की जो कुछ अनिच्छा रही हो इससे उस के हट जाने का भी अकबर को विश्वास था। उसका अनुमान बहुत अधिक ठीक निकला। ये दोनों सरदार उनके प्रति मेवाड़ में कहे गए तीक्ष्ण शब्दों के घाव से चिल्लाते हुए दरबार को लौटे। ये शब्द इस लिए भी अधिक दुःखदाई जान पड़े क्योंकि वे सत्य थे। उस को उन दोनों के हृदय में इस बात का विश्वास दिलाने में भी सफलता हुई कि प्रताप दरबार में कभी नहीं आयगा

और अब केवल एक ही उपाय बाक़ी था, युद्ध और सम्भवतः मरण पर्यन्त युद्ध।

अकबर और प्रताप अब आमने सामने थे। समझौते का पर्दा हट चुका था और अकबर मेवाड़ को अपने राज्य में मिलाने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। अकबर एक मुसलिम सम्राट् के रूप में जो एक संयुक्त साम्राज्य बनाने का जो स्वप्न देख रहा था क्या उस में एक भी स्वतन्त्र हिन्दु राजा के लिये स्थान न था ? क्या वस्तुतः भारत की विजय इस छोटे से रेतीले और पथरीले टुकड़े को पाँव के नीचे रौंदे बिना अपूर्ण थी ? क्या प्रताप एक स्वत्वाभिमानी विद्रोही ही था जो अकबर के विशाल साम्राज्य के स्वप्न को भंग करने पर तुला हुआ था ? इन प्रश्नों के उठते ही इन का उत्तर भी हमें मिल जाता है। अकबर के विचारानुकूल शासन रीति उसकी मृत्यु के बाद के अर्धशताब्दी तक भी न रह सकी। इस का कारण यह था जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि इसका आधार किसी मानी हुई प्रणाली पर न था। हीयरवर्ड दि वेक जानता था कि विजेता द्वारा इँग्लैंड का विजित होना अनिवार्य है। इस पर भी उस ने उस के विरुद्ध युद्ध किया। क्या इस के लिये उसे क्षमा-प्रार्थी होने की आवश्यकता है ? क्या हमें कभी इस बात पर शोक होता है, कि वैलिस और ब्रूस ने इङ्गलिस्तान के बादशाह एडवर्ड को स्काटलैण्ड को अँग्रेज़ी राज्य का एक पुंछल्ला समझने न दिया ? प्रताप विद्रोही

नहीं कहला सकता था क्योंकि उसने बादशाह की पराधी-नता कभी स्वीकार नहीं की थी। वह अपने रजवाड़े की स्वतन्त्रता से चिपट रहा था। वह रजवाड़ा भी ऐसा था जो कभी खुद दिल्ली को पीछे लगाने की आकांक्षा रखता था। वहाँ गौरवपूर्ण विजय-स्तम्भ उसकी जाति के उन वीरतापूर्ण कार्यों की घोषणा कर रहा था, जिन्हों ने गुजरात और मालवा को परास्त किया था। हां, उसने अपना निश्चय पक्का कर लिया। जो कुछ दूसरे राजपूत रजवाड़ों ने किया था, जो कुछ उसके अपने ही पतित भाई जगमल ने भी किया था, उस का उसके हृदय पर कुछ भी असर नहीं हुआ।

उसे सम्राट् के दरबार में एक उच्चपद पेश किया गया था, और उसने घृणा से उसे ठुकरा दिया। उसने निश्चय किया था कि मैं मेवाड़ की स्वतन्त्रता को छाती से लगाऊँगा, जहाँ तक बन पड़ेगा उसकी रक्षा करूँगा, और अन्त में इसकी रक्षा में अपने प्राण दे दूँगा। इस निश्चय के कारण उसे कैसी कैसी कठिनाइयों का मुँह देखना पड़ा, इसका हमें शीघ्र ही पता लग जायगा।

—o—o—

पाँचवाँ परिच्छेद

"हल्दी घाटी की लड़ाई"

प्रताप के पास जो अन्तिम राजदूत गया वह दिसम्बर १५७३ में मेवाड़ से आया। राजा टोडरमल ने अकबर को अपनी असफलता की सूचना अगली जनवरी में दी थी। अकबर उस समय मेवाड़ पर चढ़ाई करने की ही सोच रहा होगा। उस के समझौते के लिये बार बार किये हुए प्रयत्नों का यही अर्थ हो सकता है। सन् १५७४ में उस पर उस की अपनी कठिनाइयां आ पड़ीं। काबुल में कुछ विद्रोह की खिचड़ी पक रही थी और उस गड़बड़ को शान्त करने के लिए अकबर को एक प्रबल सेना भेजनी पड़ी। इस से भी बढ़कर यह हुआ था कि राजपूताने के कुछ राजाओं ने लगभग इसी समय स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा किया। जोधपुर के राव चन्द्रसेन ने जो सन् १५७२ में प्रताप के राज्याभिषेक में सम्मिलित हुआ था, अब अपने सब से बड़े भाई रामराय के पुत्र कल्ला को अपनी ओर मिला लिया और उन्हों ने विद्रोह की दुन्दुभि बजाई। महोबा (जो जोधपुर की रियासत में अब 'मल्लानी' कहलाता है) के राव मेघराज और सिरोही के राव सुर्तान ने भी इस का साथ दिया।

प्रताप इतने बड़े अवसर पर चूक नहीं सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस ने विद्रोहियों का साथ दिया और जैसा कि हम अन्यत्र कह आए हैं, इस स्वतन्त्रता के युद्ध में उस ने अपना कार्य किया। अकबरनामे के सरकारी वृत्तान्तों से ज्ञात होता है, कि यह विद्रोह राजपूताने के एक बहुत बड़े भाग में फैल गया था। मुग़लों की भारी शक्ति पूर्ण रूप से इस में लग गई थी। परन्तु सदा की भांति इस बार भी अकबर को इन साथियों को फोड़ने में सफलता हुई। उस ने एक एक कर के उन पर आक्रमण किया। पहला आक्रमण जोधपुर से ४४ मील दक्षिण पूर्व में सोजात पर हुआ। कल्ला अपने राज्य की रक्षा के लिये खूब लड़ा, परन्तु उसे पराजय हुई। कल्ला ने अकबर की अधीनता स्वीकार की और सोजात का ज़िला उस को वापिस दे दिया गया। तब राव मेघराज की बारी आई। उस पर आक्रमण हुआ और चारों ओर से दबाव डाला गया। अन्त को उस ने हथियार डाल दिये। परन्तु मुख्य समस्या सिवाना की थी जो जोधपुर से ५४ मील पश्चिम में है। यहां चन्द्रसेन पर न तो मुग़लों के प्रलोभनों का असर होता था और न उन की धमकियों का। जिन मुग़लों ने घेरा डाल रक्खा था, उन को सन् १५७४ के दिसम्बर में अजमेर वापिस जाना पड़ा और सम्राट् से जो उस समय वहीं था, कुमक मांगनी पड़ी। कुमक भेजी गई परन्तु जब यह सेना सिवाना

पहुँची, तो कल्ला फिर विद्रोही हो चुका था। इस से सिवाना को दबाने का काम फिर जटिल हो गया। 'अकबरनामे' से हमें पता लगता है कि राणा प्रताप दक्षिण के पर्वतों में साम्राज्यवादियों को दुःख दे रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहां पर चन्द्रसेन अपना काम कर रहा था, वहीं पर और उस के साथ रह कर प्रताप मुग़लों की नाक में दम कर रहा था। 'मुआसिरुलउमरा' प्रताप के कार्यों पर और भी प्रकाश डालती है। उस के अनुसार प्रताप को रोकने के लिये सिवाना के विरुद्ध जलालुद्दीन कुरची और सैयद हाशिम भेजे गये थे। नवम्बर १५७५ में चन्द्रसेन के विरुद्ध युद्ध करते हुए जलालुद्दीन की मृत्यु हो गई। इस से प्रताप निःशङ्क हो गया। यद्यपि बड़ी भारी कुमक तत्काल भेजी गई परन्तु प्रताप ने फिर भी मुग़लों को पर्याप्त हानि पहुंचाई। इस चिरकाल व्यापी युद्ध ने अन्त में अकबर को प्रताप के ही साथ भिड़ जाने को बाध्य किया। यद्यपि सिवान का किला पहले सर किया जाना चाहिए था। मार्च सन् १५७६ में अन्ततः सिवाना सर हो गया और बादशाही सेना ने वहां से छुट्टी पाई। यह नहीं हो सकता था कि यह क़िला तो, जो राजपूताने के दृढ़तम दुर्गों में से एक था, अजित बना रहे और राणा पर धावा बोल दिया जाय। विशेषतः उस दशा में जब कि दो वर्षों तक मुग़ल सेनायें बार बार मार कर पीछे हटा दी जाती रही हों और उन को आगे न बढ़ने

दिया जाता हो। अन्त में जब सिवाना का पतन हुआ तो अकबर ने राणा के विरुद्ध कार्य करना आरम्भ किया।

जिस समय अकबर ने मेवाड़ पर एक बार फिर चढ़ाई करने और उस की स्वतन्त्रता का अन्त करने का निश्चय किया उस समय राणाप्रताप मेवाड़ के बचे-खुचे भाग पर चार वर्ष से राज्य कर रहा था। इस बीच में ऐसा विश्वास होता है, प्रताप ने आक्रमणरूपी विपत्ति का सामना करने के लिए अवश्य तैयारी कर ली होगी। क्योंकि वह जानता था कि यह वज्र एक न एक दिन अवश्य गिरेगा। हम पहले कह आए हैं कि किस प्रकार उस ने मेवाड़ की भूमि को इतना ऊपर बना दिया था कि मुग़ल सेनायें उस पर अधिकार न प्राप्त कर सकें। अपनी पहाड़ी राजधानी कुम्भलगढ़ में बैठा हुआ वह अपने झंडे के नीचे राजपूताने की बची-खुची वीरता को एकत्रित कर रहा था। ग्वालियर के भूतपूर्व राजा राम शाह ने मुग़लों को रोकने में प्रताप को ज़रूर बड़ी सहायता दी होगी। चार वर्ष तक अकबर ने उसे नहीं छेड़ा था। तब अन्त को जो होनहार था वह होकर ही रहा।

राजकुमार सलीम का जन्म ३० अगस्त १५६९ को हुआ था। उस के बाद से अकबर प्रायः प्रति वर्ष अजमेर जाया करता था। वहां जाने से दो प्रयोजन सिद्ध होते थे। एक तो तीर्थ-यात्रा हो जाती थी और दूसरे सम्राट् को राजपूताना पर तीक्ष्ण दृष्टि रखने का अवसर मिल जाता था। इस बार

अकबर १७ फर्वरी सन् १५७६ को फतहपुर से अजमेर के लिए चला और १८ मार्च को वहां पहुँच गया। प्रायः एक पक्ष योजनाओं पर विचार करने में लग गया और ३ अप्रेल को कुँवर मानसिंह प्रताप पर चढ़ाई करनेवाली सेना का अध्यक्ष बनाया गया। उसकी सहायता के लिये वेतनाध्यक्ष सेनापति आसफ खां, सैयद हाशिम, बरह, राजू, सैयद अहमद, मानसिंह का चाचा राजा जगन्नाथ कछवाहा, रणथम्भोर का सेनानायक मेहत्तर खाँ और राय लूनकरण कछवाहा नियत किये गये।

प्रताप को छोड़ कर भागा हुआ उसका भाई शक्तिसिंह वहाँ था, यद्यपि जगमल के वहाँ होने का पता नहीं चलता। प्रताप के गद्दी पर बैठने के बाद उस के साथ शक्तिसिंह का झगड़ा हो गया था। कठोर और धिक्कार के शब्दों के बाद मार-पीट की नौबत आ गई। तब कुल-पुरोहित ने यत्न किया कि वे एक दूसरे का गला काटने न दौड़ें, परन्तु उसे सफलता न हुई। अन्त में वह उन दोनों लड़ाकुओं के बीच में घुस गया। शक्तिसिंह के भाले से उसकी मृत्यु हो गई। प्रताप ने ठीक समय पर अपना हाथ पीछे खींच लिया। इस ब्रह्म-हत्या के कारण शक्तिसिंह को देश-निकाले की आज्ञा मिल गई और वह अकबर के दरबार में चला गया। अपने पिता के जीवन काल में भी वह वहाँ कुछ समय रह चुका था। अकबर ने उसे उदयपुर के अन्तर्गत मैंसरोर की जागीर दी। अब उसका

हाथ न केवल प्रताप के विरुद्ध किन्तु अपनी मातृभूमि के विरुद्ध भी उठा। कुँअर मानसिंह की नियुक्ति भी कुछ अर्थ रखती थी। एक तो उसे प्रताप से मिलने पर होनेवाले अपमान का बदला चुकाना था और दूसरे, जैसा कि मोतमिद खाँ अपने 'इकबाल नामा जहाँगीरी' में कहता है, उसके पूर्वज मेवाड़ के राजाओं की प्रजा थे; उसे भेजकर अकबर ने इस बात का निश्चय कराया कि बादशाही फ़ौजों को बहाने से टालने के बजाय वह लड़ाई करेगा। मानसिंह को मुहिम का प्रधान सेनापति बनाकर भेजने में अकबर का यह भी उद्देश्य था कि मानसिंह के हृदय में राजपूतों और राणा के प्रति जो अहित-भावना थी जो उदयपुर में राणा की मुलाकात के द्वारा उस के हृदय से पूर्ण रूप से नहीं निकल सकी थी, वह अब भली प्रकार निकल जाय। यह देख कर कुछ हँसी आती है कि सेना के कुछ मुसलमान अफसरों ने मानसिंह के हिन्दू होने के कारण उसके प्रधान सेनापति बनाये जाने पर घोर आपत्ति की।

टाड कहता है परन्तु पता नहीं उसने कहां से सुना है, कि इस समय बादशाही सेनाओं का अध्यक्ष सलीम था। सभी तत्कालीन लेखक और एक शताब्दी पीछे के राजपूत ऐतिह्य एक स्वर से कहते हैं कि बादशाही सेनाओं का सेनापति मानसिंह था। जैसा कि हम देख चुके हैं, 'इकबाल-नामा जहाँगीरी' तो मानसिंह की नियुक्ति के लिये कारण भी

देता है। मुल्ला इबदुल कादिर बदायूँनी लिखता है कि सेना में उस के एक मित्र ने इस नियुक्ति पर उससे बुरा माना। सरकारी इतिहास लेखक अबुल फ़ज़ल कहीं भी सलीम का उल्लेख नहीं करता। और राजपूतों की ओर से भी कोई ऐसी साक्षी नहीं मिलती जिस से सलीम का वास्तविक या नाममात्र का भी नेतृत्व प्रमाणित होता हो। इस लड़ाई के समकालीन चित्र भी प्रताप और मानसिंह को ही घातक युद्ध में भिड़े हुए दिखलाते हैं। उनमें सलीम का कहीं नाम निशान भी नहीं आता। सब से बड़ी बात तो यह है कि सलीम इस समय पूरे ६ वर्ष का भी नहीं था। ३० अगस्त १५६९ को इसका जन्म हुआ था। टाड द्वारा वर्णित कार्य को कर सकना तो दूर वह उस युद्ध में कुछ भी भाग लेने के योग्य न था। उदयपुर के जगदीश मन्दिर का लेख भी, अकबर की सेना का प्रधान सेनापति मानसिंह को ही बतलाता है।

३ एप्रिल १५७६ को मानसिंह ने अजमेर से अपनी सेना के साथ कूच किया। वह मण्डलगढ़ तक बढ़ा चला गया। वहां पर उसने अपने सरदारों की प्रतीक्षा की और अजमेर तथा अपनी सेना के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रबन्ध किया। यह अति आवश्यक था क्योंकि मेवाड़ के मैदानों को प्रताप ने बञ्जर बना दिया था। और रसद प्राप्त करना बहुत ही कठिन था, इतना अवश्य था कि जो भाग उदयसिंह से पहले जीत लिये गये थे वहां से कुछ सहायता

मिल सकती थी। मेवाड़ को उस के अतिरिक्त प्रदेशों से वंचित कर दिया गया था। परन्तु जान पड़ता है कि बादशाही सेनायें सीसोदिया के प्रदेश में बहुत दूर तक नहीं घुस सकी थीं और इसी लिये बाहर वालों के साथ संबन्ध को अटूट रखने की आवश्यकता थी। अन्त में यह सब तैयारी समाप्त हुई और जून के मध्य में मानसिंह गोगुन्दा की ओर बढ़ा। नैनसी कहता है कि मानसिंह के पास चालीस हज़ार सैनिक थे, परन्तु बदायूँनी इस संख्या को पांच हज़ार तक ही सीमित रखता है। यहां पर बानस नदी के किनारे मानसिंह ने मुलेरा स्थान पर डेरा डाला। कुछ दिन आसपास की जांच पड़ताल में व्यतीत कर दिये।

राणा प्रताप को मानसिंह की तैयारियों का पता एप्रिल में लग गया था। उसने अपनी तैयारियां शुरू कर दी थीं। बादशाही का सामना करने के लिये उसे राजपूत माता की कोख से उत्पन्न हुए प्रत्येक पुत्र को जो शस्त्र धारण कर सकता था, एकत्रित करना था। प्रबल से प्रबल इच्छा भी इस समय एक बड़ी सेना को नहीं बटोर सकती थी। अकबर के प्रलोभनों से उसकी सेना की संख्या बहुत घट गई थी। उसके कुछ सहायक भी प्रलोभन के वशीभूत होकर उसे छोड़ गए थे। हम देख चुके हैं कि रावल आसकरण और राजा नारायणदास सम्राट् की शरण में जा चुके थे। कुछ और छोटे मोटे सरदार भी जाल में फंसे

होंगे। परन्तु कुछ तो कर्तव्य-भाव से, कुछ ऐसे वीररत्न सरदार के प्रति श्रद्धाभाव से और कुछ अन्य इस भाव से कि हम दूसरे राजपूतों से ऊँचे हैं, उसके अपने सरदार संगठित रहे। जो राणा मेवाड़ के प्राचीन गौरव को ऊँचा उठाने में संलग्न था उसे छोड़ जाने का साहस किस में था? सब मिलाकर प्रताप लगभग ३००० राजपूत एकत्रित करने में समर्थ हुआ था। इन के अतिरिक्त उसके विश्वास पात्र भील भी थे। वे जमकर तो नहीं लड़ सकते थे परन्तु अपने पुराने शस्त्रों और अपनी पुरानी चालों से शत्रु की घोर हानि कर सकते थे।

सेना इकट्ठी कर लेने के बाद राणा राजा मानसिंह के बढ़ने के समाचार की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगा। सब से अच्छा तो यह था कि मानसिंह की सेनाओं को धोखे से पहाड़ों में ला कर भूमि की प्राकृतिक स्थिति से लाभ उठाते हुए उन से खूब युद्ध किया जाता। वहां उस के विश्वस्त भील दर्रें पर अधिकार कर के मानसिंह के लिए पीछे हटने का मार्ग बन्द कर सकते थे और वहां प्रताप के अनुयायी अपने प्राणों को बहुत महँगे दामों पर बेच सकते थे। परन्तु प्रताप सम्भवतः मुग़ल सेनाओं को अपने पहाड़ों के गुप्तस्थानों में आने देने से डरता था, क्योंकि जब एक बार वे वहां पहुँच गये तो उन को उन ऊसर चटानों पर अधिकार जमाने से रोकना कठिन होगा, चाहे उन के लिए

यह परीक्षण बहुत महंगा पड़ेगा। सम्राट् कुमक की झड़ी लगा सकता था। इस लिए प्रताप ने इस चाल से लाभ न उठाने का निश्चय किया। एक बात और भी थी वह यह कि राजपूतों ने अभी तक इन चालों को भली भाँति काम में लाना न सीखा था, जितना कि उस के एक उत्तराधिकारी महाराजा राजसिंह ने औरङ्गज़ेब के विरुद्ध किया था। इस के अतिरिक्त सिसोदिये शत्रु के साथ भिड़ने के लिये अधीर हो रहे थे, विशेषतः इस लिए कि वह शत्रु कछवाहा था। मेवाड़ पर आक्रमण करने की मानसिंह की धृष्टता देख कर प्रताप को इतना क्रोध हो आया कि एक बार तो उसने प्रायः निश्चय ही कर लिया कि मंडलगढ़ में ही मानसिंह पर धावा बोल दे। परन्तु ऐसा करना नितान्त मूर्खता होती। मंडलगढ़ अपेक्षाकृत अजमेर के बहुत निकट था। वहां सहायतार्थ अगणित सेना पहुँच सकती थी। प्रताप को जो प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त थीं वे सब व्यर्थ हो जातीं। सम्भवतः इस स्थान पर मानसिंह का प्रायः दो मास पड़े रहने का एक बड़ा कारण यह था, कि वह प्रताप को मैदान में आकर युद्ध करने का प्रलोभन देना चाहता था। प्रताप ने इस बात को अच्छी तरह समझ कर इस से बचने का निश्चय किया। फलतः मानसिंह को गोगुन्दा से कुछ मील उत्तर को हल्दी पगडंडी के चरण पर मोजेरा स्थान तक

आना पड़ा । इस दर्रे का नाम 'हल्दीघाट' इसलिए है क्योंकि यहाँ की भूमि पीतवर्णा है ।

राणा कुम्भलगढ़ से दक्षिण दिशा में खमनूर की ओर बढ़ा । उस की सेनाओं की चालें इतनी गुप्त थीं कि मानसिंह को पता भी न लगा कि शत्रु इतना निकट आगया है । इस अज्ञानता से एक दिन सायंकाल को इस मुहिम का अन्त हो गया होता, परन्तु सीसोदिया वीर धोखा देने को बहुत बुरा समझते थे । प्रताप के गुप्तचर लोहसिंह नामक ग्राम में एक दिन सन्ध्या के समय समाचार लाये कि मानसिंह एक हज़ार सैनिकों के साथ समीप ही शिकार खेल रहा है । किसी ने सलाह दी कि रात्रि को छापा मारा जाय । यह परीक्षित योद्धा शत्रु से लोहा लेने के लिए इतने अधीर हो रहे थे कि यह सलाह प्रायः स्वीकृत हो गई । तब बीड़ा झाला नाम के एक वृद्ध सरदार ने जो प्रताप को बचाने के लिए युद्ध में अपने प्राणों की बाजी लगाने जा रहा था, इस मुहिम का विरोध किया । इस प्रकार मानसिंह बच गया ।

कछवाहा सरदार डेरा डाले मुजेरा में पड़ा था । उसे प्रसिद्ध 'हल्दीघाटी' में घुसने की कोई इच्छा न थी । यद्यपि यह एक छोटा सा दर्रा है, तो भी गुजरात के मार्ग में पड़ने के कारण इस में आना जाना बहुत लगा रहता था और मक्का के यात्री इसका उपयोग करते थे । चारों ओर ऊँचे ऊँचे पहाड़ सिर उठाये खड़े हैं । यदि मानसिंह एक

बार उस में घुसने का साहस करता तो प्रताप उसे ऐसा पाठ पढ़ा सकता था जिसे वह शीघ्रता से न भूलता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। अन्त में राणा ने दर्रे में से हो कर खमनूर के ग्राम पर युद्ध करने का निश्चय किया। २१ जून सन् १५७६ को दोनों सेनायें आमने सामने हुईं। इस बार राजपूतों ने पहले आप धावा बोला।

मानसिंह अपने शत्रु को भली भाँति जानता था। उसने प्रत्येक प्रयत्न से अपनी सेना को इस प्रकार खड़ा किया कि जिससे वे अपना पूरा बल दिखा सकें। सेना के अगले भाग का अध्यक्ष मानसिंह के चचा राजा जगन्नाथ को बनाया गया। सैयद हाशिम के नेतृत्व में एक चुनी हुई टोली पहले आक्रमण के आघात को सहने के लिये अलग कर दी गई। कई लड़ाइयों में ख्याति पाने वाला सैयद अहमद खां बरहा दक्षिण की ओर खड़ा हुआ। बाईं ओर का नेता गाज़ीखां बदख्शी था। उस की सहायता के लिए सम्भर का राय लूनकरण कछवाहा था। मध्य में हाथी पर सवार मानसिंह खड़ा था। वहां कई अफसर उस को सहायता दे रहे थे। मेहत्तरखां और राय माधवसिंह कछवाहा कुछ सेना के साथ पीछे रक्खे गये ताकि आवश्यकता होने पर युद्ध में सम्मिलित हो सकें।

———

हल्दी घाटी का युद्ध

एक ओर

मेहतर खाँ

माधोसिंह

सैयद अहमद

मानसिंह

गाज़ी खाँ बदख़्शी

राजा लूनकरण

बर्हा बंधु

राजा जगन्नाथ

मुहम्मद रफ़ी बदख़्शी

सैयद हाशिम गुप्तचर

....

दूसरी ओर

हाकिम खाँ सूर

भीमसिंह

रावत कृष्णदास

रामदास

प्रताप

झाला मानसिंह

ग्वालियर का राजा राम-शाह और उसके पुत्र

मानसिंह

भामाशाह

राजा पुंज

पुरोहित गोपीनाथ

मेहता रत्नचंद

जगन्नाथ

राणा प्रताप अपनी सेना को घाटी में से ले गया, पर मानसिंह को इतना साहस न हुआ कि उसके मार्ग को रोके। राणा ने अपनी सेना की बहुत सुन्दर व्यूह-रचना की थी। ग्वालियर के राजा रामशाह ने चुने हुए अफसरों की एक टोली के साथ दक्षिण पार्श्व का नेतृत्व संभाला था। बाईं ओर का नेता मानसिंह झाला था। उसकी सहायता के लिये अक्षयराज का पुत्र मानसिंह सनोगरा था। सेना के अग्रभाग का नायक हाकिमसूर पठान नामक एक मुसलमान था। जिसके साथ चन्दावत किशनदास और चितौड़ के प्रसिद्ध जयमल का पुत्र रामदास और भीमसिंह थे। प्रताप मध्य में था। उसकी सहायता के लिए पनरवा का राजा पुंज, पुरोहित गोपीनाथ और मेहता रत्नचन्द थे।

तब युद्ध की चोट पड़ी। राजपूतों के अग्रभाग ने बादशाही सेना के अग्रभाग पर धावा बोला। भूमि ऊबड़ खाबड़ और कटीली झाड़ियों से भरी हुई थी। अपने पठान नेता और राजपूत की अध्यक्षता में राजपूतों ने बादशाही सेना के छक्के छुड़ा दिये। वह पीछे हटकर अपनी सेना के मध्य भाग से जा मिली। इस प्रकार इकट्ठी हो जाने पर भी मुग़ल सेना राजपूतों के उन्मत्त हल्ले के सामने ठहरने में असमर्थ थी। वे अपना जातीय युद्ध घोष करते हुए मुग़लों पर टूट पड़े। दाहिने और बांयें तलवार चलाने लगे। उनको ऐसा अवसर गत दस वर्षों में

नहीं मिला था। यहां तक कि चित्तौड़ के घेरे में भी अपनी रक्षा ही उनका ध्येय था। जब उनके हथियारों को खुलकर खेलने का मौका मिला तो उन्होंने चाहा कि उनकी प्यास अच्छी तरह से बुझा लें। बादशाही फौज का बायां पार्श्व भी पराजित हुआ। राणा की सेना की केन्द्रस्थ टुकड़ी ने राणा के नेतृत्व में दरी में से निकल कर हल्ला बोला और गाज़ीखां को जो वहां खड़ा किया गया था, खदेड़ दिया। उसकी सेना का मध्यभाग टूट गया था, और उसके सैनिक भाग निकले। गाज़ीखां पहले तो अपने स्थान पर दृढ़ता से डटा रहा, परन्तु बाद को तलवार की एक चोट से घायल होकर वह भी भाग निकला। उसकी सेना का बायां भाग और अगला भाग तितर बितर हो गये। बादशाही सेना ऐसे शत्रुओं से जो भय का नाम तक न जानते थे भागने की जल्दी में थी। यह एक ऐसी बात थी जो गत २० वर्ष से, दिल्ली में तरदीबेग की हार के बाद, प्राप्त हुई थी। जिन राजपूतों ने अपनी वीरता से बादशाही सेना को पीछे हटा दिया अबुलफ़जल और बदायूँनी उनका भूरि भूरि यश गान करते हैं। जून की जलाने वाली गरमी अपना भयंकर रूप पूरी तरह से दिखा रही थी। एक दुर्भाग्य की बात यह हुई कि कुछ मुसलमान सेनापतियों ने, क्षणिक आतंक के वशीभूत होकर, राजपूतों पर तीर चला दिये। उन्होंने यह न देखा कि राजपूत बादशाही फौज के हैं या राणा की सेना

के। बदायूँनी ने अपने निकटवर्ती एक सरदार से पूछा कि बादशाही राजपूतों और राणा की सेना में कैसे पहचान की जाय? सेनापति ने अपने उत्तर में पाशविक स्पष्टता से कहा कि इसकी कोई बात नहीं। जो कोई भी मारा जाय इस्लाम को लाभ ही है। बादशाही सेना में इससे और भी गड़बड़ पड़ गई होगी।

सिपाहियों में से अधिकांश भाग निकले और उन्होंने युद्ध-क्षेत्र से १२ मील दूर पहुंच कर ही दम लिया। शेष ने केन्द्रस्थ सेना की शरण ली। इसी स्थान पर राणा प्रताप ने अपना पूरा बल इकट्ठा कर दिया। यहीं पर उसके राजपूत खड्ग चलाने और अपने भालों से काम लेने लगे। राणा की उपस्थिति से उसके सैनिकों को बड़ा उत्साह मिलता था और उस के उस दिन के वीरता पूर्ण कार्यों से उन में नवजीवन का संचार हो रहा था। यहां भी लड़ाई में बादशाही सेना की पंक्ति टूट गई और कई सेनापतियों ने भाग कर ही जान बचाई।

बाईं तरफ मध्यभाग और अगली सेना के तितर बितर हो जाने से प्रताप के वीर अनुयायी प्रायः लड़ाई जीत चुके थे। वे भूमि के प्रसार से परिचित थे और उनके भील मित्र बड़े २ पत्थर नीचे सेना पर फेंक रहे थे। वे एक ऐसे सेनापति का सामना कर रहे थे जो उनको भगोड़ा जान पड़ता था। काम बनते बनते बिगड़ जाया करते हैं। ठीक जिस समय रण-देवता

उनका पक्ष ले रहा जान पड़ता था। लड़ाई ने नया रुख़ बदला।

मेहतर ख़ाँ को सहायतार्थ पीछे रक्खा गया था वह बड़ी उत्सुकता से युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा था। पहले तो राजपूतों की सफलता ने उसे कुछ समय के लिये भौंचक्का सा कर दिया, परन्तु अन्त में उस ने युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया। मुग़ल सेनाओं को इस बात का विश्वास दिलाने के लिये कि सम्राट् स्वयं उन का नेतृत्व करने के लिये आ गया है, उस ने अपने नगाड़े बजवाये और दूसरी सब चालें चलीं। फिर वह घमसान युद्ध में कूद पड़ा। यह चाल सफल हुई और भागती हुई बादशाही सेनायें रुक गईं। मेहत्तर ख़ाँ ने स्थिति को बचा लिया। इस गप्प से मुग़ल सेनाओं को कुछ साहस मिला। अब फिर घोर युद्ध होने लगा। मुग़ल पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मज़बूती के साथ जमे खड़े रहे। उनकी संख्या अधिक होने से ऐसा प्रतीत हुआ कि सफलता उन्हीं के हाथ रहेगी। राजपूतों के हाथियों की क़तार मुग़ल सेना के ठीक मध्य तक जा घुसी थी, जहां मानसिंह चिन्तित भाव से खड़ा था। हाथियों ने भी युद्ध में अपने हिस्से का काम करने की चेष्टा की। मानसिंह स्वयं एक हाथी पर सवार था। राणा की ओर से प्रसिद्ध हाथी रामप्रसाद ने उस दिन बड़ी वीरता से काम लिया। परन्तु बादशाही सेना के एक तीर से उसका महावत मारा गया और बादशाही हाथी गजमुक्ता का महावत कूद

कर उस की गर्दन पर आ गया। हाथी अभी जान भी न पाया था कि उस ने अनुभव किया कि कोई उसे अंकुश से आगे को हाँक रहा है।

राणा प्रताप ने अपने को हाथी की विश्वासघातक दया पर नहीं छोड़ रक्खा था। वह अपने प्रसिद्ध घोड़े चेटक पर सवार था। वह सारे दिन युद्ध में व्यस्त रहा था उस के खड्ग और भाले ने अमर यश प्राप्त किया था। परन्तु एक बात थी। जिस की अभिलाषा उस के हृदय में बड़ी तीव्र थी। वह चाहता था कि घमसान युद्ध में मानसिंह से दो हाथ करूं। अन्त को हाथ में तलवार लिए, काटता-छांटता वह युद्ध के केन्द्र में जा पहुँचा। यहां मानसिंह शाही सेना-पति की आन-बान के साथ हाथी की पीठ पर बैठा था। राणा अन्त में अपने शिकार पर जा पहुँचा और अपने भाले को हाथ में खूब संभाल कर उस ने अपने विश्वस्त घोड़े को एड़ लगाई। चेटक उछल कर हाथी के मस्तक पर जा चढ़ा। प्रताप ने तान कर पूरे ज़ोर से प्रहार किया। मानसिंह के पास इतना ही समय था कि घुस कर हौदे में छिप जाय और वार को बचा जाय। भाला फौलाद के हौदे में लगा। मानसिंह की जान बच गई परन्तु उस का महावत भूमि पर जा गिरा। दोनों सेनापतियों के चारों ओर अब बड़ा घम-सान युद्ध मच रहा था। हाथी की लम्बी सूंड में छोटा सा भाला था। उस से चेटक का एक पैर छिद गया था। प्रताप

अब बिलकुल मध्य में था। अब मानसिंह के चुपचाप खिसक जाने से, उसे अपनी सेना तक अपना मार्ग काट कर साफ़ करना था। उस ने दो तीन बार शत्रुओं को भाले से काट काट कर मार्ग बनाया था। पर अब सहायता समीप थी। माना झाला वामपार्श्व की कमान कर रहा था। वह शीघ्रता से अपने सरदार के पास जा पहुँचा और उस से मिल गया।

दूसरी ओर ग्वालियर के राजा रामशाह ने अपूर्व काम किये थे। वह मेवाड़ के महाराजाधिराज का सम्मानित अतिथि था। इस से मुग़ल सम्राट् मेवाड़ाधिपति पर बहुत क्रुद्ध हो गया था। वह अपने पुत्रों समेत दक्षिण पार्श्व में था। उसने बादशाही सेना को नाकों चने चबा दिये थे। अन्त में, तीन पुत्रों सहित वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसने इस प्रकार मेवाड़ में बिताये हुये शान्तिमय दिनों का बदला चुकाया। मेड़ता के प्रसिद्ध जयमाल के पुत्र रामदास राठौर ने घोर युद्ध की ज्वाला में अपने प्राणों की आहुति दी।

प्रताप भी कुछ कम संकट में न था। वह चारों ओर से घिरा हुआ था। उस के हाथ में उसका सच्चा मित्र उसका खड्ग था। वह अपने प्रसिद्ध घोड़े पर सवार था। पर उसका हाथ थक रहा था, और चेटक के एक पाँव में बहुत बुरा घाव हो गया था। पल पल में उसका संकट बढ़ता जाता था? जैसे जैसे उसके निकट मुग़ल सैनिकों की भीड़ बढ़ती

जा रही थी वैसे ही वैसे उन से बच निकलने की सम्भावना कम होती जा रही थी। शत्रु के आक्रमणों से भी उसका बचना आसान न था। क्योंकि पताका से शत्रु झट पहचाना जाता था। मानाझाला ने अब एक चाल चली। और एक ऐसी घटना घटित हुई कि जिस के समान दूसरी घटना का मिलना बहुत कठिन है। प्रताप के लिये यहाँ अपने प्राण देना निरर्थक था। जैसा कि आगे चल कर हम देखेंगे कि इस पराजय से उसकी स्थिति कुछ अधिक भय में नहीं हो गई। परन्तु वह इस बात के लिए तैयार न था कि इस युद्ध-क्षेत्र को छोड़ जाय और बाद को सीसोदियों को विजय लाभ कराए। माना झाला ने सीसोदियों की ध्वजा उसके हाथ से झपट कर खींच ली। अभी शत्रु ने यह जान भी न पाया था कि क्या हुआ कि मुग़ल सेना का आक्रमण उसी पर हो गया। प्रताप ने अपने लिये काट-छांट कर मार्ग बना लिया। इस प्रकार वह युद्ध-क्षेत्र से बच कर निकल जाने में समर्थ हुआ।

परन्तु युद्ध में पराजय[1] हुई। चाहे जितना भी प्रयत्न करते

---

१ राजपूत अपने वर्णनों में यहाँ अपनी जीत बताते हैं। उदयपुर में जगदीश मन्दिर पर मई सन् १६५२ का एक संस्कृत शिला-लेख दो श्लोकों में युद्ध का वर्णन इस प्रकार करता है।

"हाथ में प्यारी कटार लिये प्रातःकाल प्रताप युद्ध में कूद पड़ा। शत्रु-सेना जिसका नेता मानसिंह था, तितर बितर होकर भाग गई।"

पर प्रताप के सरदार अब मुग़ल विजय को रोक नहीं सकते थे। जब उनको ज्ञात हुआ कि प्रताप बच कर निकल गया है तो उन्हों ने भी अपना विचार बदल डाला। व्यूह तोड़ डाला और युद्ध क्षेत्र को छोड़ दिया। मृतकों की संख्या दोनों तरफ काफ़ी थी। बदायूँनी सैनिकों की संख्या ५,००० बादशाही और ३,००० राजपूत बतलाता है। वह लिखता है कि १२० बादशाही सैनिक और ३७० राजपूत लड़ाई में खेत रहे। मुग़लों की तरफ घायलों की संख्या तीन सौ थी। राजपूत इतिहास सैनिकों की संख्या बहुत बड़ी बताते हैं, अर्थात् २०,००० राजपूत और ८०,००० बादशाही सेना। युद्ध-क्षेत्र से राजपूतों में से केवल ८,००० बिना चोट खाए लौटे। बादशाही सेना में मृतकों की संख्या इसी के अनुसार ऊँची रही होगी।

प्रताप युद्ध-क्षेत्र से पहले ही चला गया था। उस की सेना भगा दी गई थी। परन्तु मानसिंह ने उन का पीछा करने की आज्ञा न दी। मुग़ल सेनायें इस बार बहुत थकी हुई थीं। उन को संदेह था कि राजपूत कहीं आस-पास छिपे न हों। मानसिंह नहीं चाहता था कि राणा का पीछा किया जाय। सायंकाल को वे आराम करने के लिए अपने डेरों को लौटे

यह भी एक बड़े मज़े की बात है कि न खाफी खाँ और न फ़रिश्ता ही इस युद्ध का वर्णन करता है। सम्भवतः वे इस हार का उल्लेख करते डरते थे।—देखो अमर काव्य, ८५.

यद्यपि राजपूतों की सेना का पीछा नहीं किया गया था फिर भी दो मुग़लों ने प्रताप को युद्ध-क्षेत्र से जाते समय पहचान लिया था। उन्होंने उसका पीछा किया। चेटक थक गया था और लंगड़ाने भी लगा था। प्रताप स्वयं भी शिथिल हो रहा था। पीछा करने वाले निकट आते जा रहे थे। मार्ग में एक नदी पड़ी। चेटक उसे कूदकर पार हो गया। उसका पीछा करने वालों को तैरना पड़ा और प्रताप को कुछ समय मिल गया। पर थकावट प्रतिक्षण उसे दबाती जा रही थी। उसने उनकी टापों की आवाज़ को ध्यान से सुना तो उसे तीन सवार सर्पट घोड़ा दौड़ाए अपने पीछे आते जान पड़े। जल्दी ही उसके कान में 'नीले घोड़े के सवार' की ललकार पड़ी। प्रताप ने मुड़कर देखा तो उसका निर्वासित भाई शक्तिसिंह बड़ी तेज़ी से पीछा कर रहा था। उसने मन में सोचा क्या सारे युद्ध का यही परिणाम है। मेरा ही भाई मेरे प्राण लेने पीछे आ रहा है। वह अपने स्वामीभक्त घोड़े पर से कूद पड़ा और धीरज के साथ शक्तिसिंह के पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगा। शक्ति-सिंह का घोड़ा ताज़ा दम था, परन्तु वह भी उस पर से उतर आया और आगे बढ़ा। प्रताप इस निरर्थक नाटक का अन्त करने के लिये उद्यत था। परन्तु प्रताप पर हमला करने के बजाय शक्ति भी धैर्यपूर्वक मुग़लों की प्रतीक्षा करने लगा। जब वे बराबर आये तब वह उन पर टूट पड़ा।

प्रताप कुछ देर के लिये दंग खड़ा रह गया। परन्तु फिर वह अपने भाई से मिला और उन पीछा करने वालों का काम तमाम करने में उसने उस को सहायता दी। शक्ति और प्रताप दोनों मुग़लों पर टूट पड़े और उनको यमपुरी पहुँचा दिया। अब शक्ति ने प्रताप को छाती से लगाया और क्षमा याचना की। उसने अपनी राम-कहानी शीघ्रता से कह सुनाई। उसने दो मुग़लों को प्रताप का पीछा करते देखा था। भ्रातृ-स्नेह ने जोश मारा। उसने उनका पीछा किया और अब अपने भाई की सेवा में उपस्थित था। इस बीच चेटक जो अपने स्वामी को सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने की प्रतीक्षा कर रहा था मरकर उसके पैरों पर गिर पड़ा। सहानुभूति से दोनों भाइयों के नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली शक्ति ने अपना घोड़ा प्रताप को दिया। चेटक की मृत्यु ने उस स्थान को पवित्र बना दिया और उसकी स्मृति में वहाँ पर एक स्मारक भी बनाया गया। टाड के समय तक यह स्थान 'खुरासानी-मुलतानी सीमा' के नाम से पुकारा जाता था, क्योंकि उन में से एक मुग़ल खुरासान का था, और दूसरा मुलतान का। शीघ्र लौटने का वचन देकर शक्ति बहाने बनाने के लिए मुग़ल डेरे को वापिस गया। प्रताप भी सुरक्षित रूप से कोलियारी तक पहुँच गया। इस युद्ध का परिणाम क्या हुआ यह हम अगले प्रकरण में देखेंगे।

छठा परिच्छेद।

मेवाड़ पर बादशाह की चढ़ाई।

राणा प्रताप और उसके वीर राजपूत यद्यपि युद्ध में सफल नहीं हुये थे, तो भी उन का साहस ज्यों का त्यों ही बना हुआ था। उन्हों ने प्राय: युद्ध जीत ही लिया था और लड़ाई से बादशाही सेना की भी उतनी ही क्षति हुई थी जितनी कि राजपूतों की। प्रताप ने अपने छिन्न-भिन्न हुए सैनिकों को इकट्ठा किया। और गोगुन्दा होते हुए निकटवर्ती मुजरा ग्राम में डेरा डाल कर देखने लगे कि आगे क्या होता है। उन्हों ने अपने हट जाने को युद्ध का निर्णय नहीं समझा और वे शत्रु को अपने राज्य में और आगे घुसने की आज्ञा देने को तैयार न थे। प्रताप अभी जीवित था और उनके लिये इतना ही बस था।

दूसरी ओर मानसिंह को इस कठिनाई से प्राप्त की हुई विजय से जो भी लाभ वह उठा सकता था उठाना था। राणा का पीछा करने का तो उसको साहस न था, परन्तु अपने सैनिकों को एक दिन का विश्राम देने के बाद, उसने घाटी से निकल कर २३ जून को गोगुन्दा पर अधिकार कर

लिया। राणा के सिपाही उस स्थान को छोड़ कर चले गये थे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि लड़ाई के बिना ही यह शत्रु के हाथ पड़ गया था। श्री चन्द्र के नेतृत्व में लग-भग चालीस योद्धाओं और पुजारियों ने पीछे ठहर कर युद्ध का प्रहसन करना अपने ज़िम्मे लिया था। वे सब लड़ाई में बड़ी निर्दयता से मारे गये और वह स्थान बादशाही सेना-पतियों के हाथ आया।

परन्तु मानसिंह अपने शत्रुओं को छोटा नहीं समझता था। हो सकता है कि प्रताप निकट ही कहीं छिपा हो और मुग़लों पर अचानक छापा मारने के लिए सुअवसर की प्रतीक्षा में हो। इस अचानक आक्रमण से उसे अपना बचाव करना था। मानसिंह ने नगर के चारों ओर दीवार बनवा कर उस पर सिपाही बैठा दिए ताकि प्रताप उस पर अचानक छापा न मार सके।

यहां मुग़ल सेना कुछ समय तक डेरा डाले पड़ी रही। यद्यपि कोई घेरा डालनेवाली सेना दिखाई नहीं पड़ती थी, तो भी वे गोगुन्दा नगर में बंद पड़े थे। उन को निकटवर्ती पर्वतों में दूर तक जाने का साहस नहीं होता था, क्योंकि वहां राणा के सैनिकों को अपनी चाही भूमि पर उन से लड़ाई मोल लेने का अवसर मिल सकता था। प्रताप ने पहले ही इधर उधर की भूमि को उजाड़ डाला था। इस लिए मुग़ल सेना के सामने रसद की बड़ी समस्या थी।

आस पास के प्रान्त ऊसर पड़े थे। गोगुन्दा पर अधिकार दुखदायी सिद्ध हुआ। राणा ने इस बात का भी प्रबन्ध कर लिया था कि मैदानों में से भी कहीं से रसद न आने पावे। मानसिंह कुछ भी करे, अपनी कठिनाइयों के कारण वह नाक भौं सिकोड़ता ही रहा। उस ने मुग़ल अफसरों के नेतृत्व में कुछ रसद लाने के लिए टोलियाँ भेजने का निश्चय किया। इस से उनकी कठिनाइयाँ कुछ कम हुईं। इस समय आमों की बहुतायत थी। सेना उन्हीं पर और उन पशुओं के मांस पर निर्वाह करती रही, जो बाहर से खदेड़ कर लाये गये थे। परन्तु यह प्रबन्ध भी अधिक समय तक नहीं चल सका। राजपूतों से मुठभेड़ हो जाती थी और इन मुठभेड़ों में मुग़लों को जो क्षति पहुंचती थी उसे देख कर मानसिंह ने सेना के लिये इस प्रकार रसद लाना भी मना कर दिया।

इस बीच में विजय का समाचार और उसके साथ ही उसका कोई योग्य चिह्न भी सम्राट् के पास भेजना चाहता था। अब्दुल क़ादिर बदायूँनी भी अब वापिस जाने के लिये उत्सुक था, क्योंकि अब प्रतीत होता था कि काफिरों के साथ युद्ध समाप्त हो चुका है। कुछ ठठोली के बाद मान-सिंह ने उसे इस शुभ समाचार का वाहक बनाना स्वीकार कर लिया। सम्राट् के लिये उपयुक्त भेंट भी चुन ली गई। यह स्वात्माभिमानी ग्वालियर-नरेश का वाहन वही राम-प्रसाद नामक हाथी था जिसे कई बार सम्राट् ने मांगा था पर

वह उस को नहीं मिल सका था। इधर प्रताप की नीतियों से मुग़ल इतने अधिक भयभीत थे कि संदेशवाहक और भेंट की रक्षार्थ तीन सौ सिपाही साथ कर दिये गये। मानसिंह स्वयं ३२ मील तक इन सैनिकों के साथ गया, फिर गोगुन्दा लौट आया। बदायूँनी ने जब फतहपुर के लिये प्रस्थान किया तो बादशाही विजय का समाचार सर्वत्र फैल गया। फिर भी प्रताप की सेना-संचालन-शक्ति पर लोगों को इतना विश्वास था कि उन्हों ने मुश्किल से इस समाचार पर विश्वास किया। अन्त में २५ जून १५७६ को बदायूँनी फतहपुर सीकरी पहुँचा। सम्राट् उस समय वहीं था। वहाँ राजा भगवानदास ने अपने महान् भतीजे की विजय का समाचार लाने वाले को सम्राट् के सामने उपस्थित किया। अपने महान् शत्रु पर पाई हुई विजय के समाचार से अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। उसका हृदय इतना विशाल न था कि युद्ध-क्षेत्र से राणा प्रताप के जीवित बच निकलने के समाचार को चुप चाप पी जाता। वह चाहता था कि यह युद्ध प्राणान्तक होता। राणा का पीछा न करने के लिये उसने मानसिंह की बहुत कड़ी आलोचना की।

अब अकबर को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि इस समय मेरे लिये स्वयं कार्य-क्षेत्र में उतरने का समय है। जहाँ मानसिंह को असफलता हुई वहाँ और किसी सेनापति के सफल होने की आशा नहीं थी। इस कार्य को छोटा

समझने का समय बीत चुका था। हल्दीघाटी और गोगुन्दा पर अधिकार पाने से कुछ अधिक लाभ न हुआ था। इस लिए उस ने निश्चय किया कि मैं स्वयं ही मुग़ल सेनाओं को लेकर जाऊँ और इस व्याकुल करने वाली समस्या का सदा के लिए अन्त कर दूं। परन्तु इस से भी प्रथम उस को बंगाल की कठिनाइयों का सामना करना था। उस ने २५ जुलाई को फतहपुर सीकरी से बंगाल का प्रस्थान किया। मार्ग ही में उसे बादशाही विजय की सूचना मिली। राजपूताने की उलझनों को सुलझाने का निश्चय कर वह लौट पड़ा। इस बार १५ सितम्बर को फतहपुर सीकरी से चलकर वह २५ सितम्बर १५७६ को अजमेर पहुंचा। यहां उस को चिन्ताजनक समाचार मिले। उसने मानसिंह और आसफ़खाँ को शीघ्रता से अजमेर लौटाने की आज्ञा भेजी। सम्राट् की कड़ी आज्ञा कुछ सन्देह-जनक थी। इस लिये उन्हों ने उस को पूरा करने में शीघ्रता की। अजमेर पहुंचने पर उनकी शंकायें सत्य ही हुईं। मानसिंह के विरुद्ध सम्राट् के कान खूब भर गये थे। उस पर प्रताप के पक्ष में होने का सन्देह किया गया। प्रताप को पकड़ने में उसकी असफलता पर और प्रताप के राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर डालने से उस के इन्कार करने पर उस की कड़ी आलोचना की गई। दोनों को सम्राट् के दरबार में आने के आनन्द और सम्मान से वंचित

कर दिया गया। इस प्रकार वे कुछ समय तक अपमान का जीवन व्यतीत करते रहे।

इधर राजपूताने की दशा बहुत चिन्ताजनक हो रही थी। अजमेर में अकबर की उपस्थिति से जो भय उत्पन्न हो गया था, उसका सामना करने के लिए राणा ने सब राजपूत सरदारों को मिलाने का एक महान् प्रयत्न किया। उसने ईदर के राजा नारायणदास को एक बार फिर बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करने पर उतारू कर दिया। इतना ही नहीं वरन् सभी पुराने झगड़ों को भुला कर उसने सरोही के राव सुर्तान को भी जिसने प्रताप के नियुक्त किये हुये राव कल्ला को वहाँ से निकाल भगाने का अपराध किया था इस आगामी युद्ध में अपने साथ सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया। उसके साथ उस का मित्र जालौर का ताजखाँ भी आया। इस के अतिरिक्त जोधपुर के राव चन्द्रसेन ने नाड़ौल में बादशाही सेना को कठिनाई में डाल रक्खा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस समय राणा के साथ मिला हुआ था। राणा प्रताप का आदर्श सर्व-प्रिय था। जैसा कि हम कह आए हैं, बूँदी का राव सुर्जन सम्राट् के शरणागत हो चुका था। उसका ज्येष्ठ पुत्र दुर्जनसाल सम्राट् के पास दर्बार में नौकर रह चुका था। अकबर ने उस के छोटे भाई को उत्तराधिकारी नियत किया था। इस से क्रुद्ध होकर दुर्जनसाल दिल्ली से खिसक आया था और अपने पिता

राव सुर्जन और कनिष्ठ भ्राता राव भोज को सम्राट् की प्रसन्नता में मुदित होते छोड़ वह बूँदी चला आया और रियासत का स्वामी बन बैठा था। प्रताप स्वयं उदयपुर आया और आस पास के देहात को तङ्ग करने लगा। उसने मानसिंह के अजमेर चले जाने से लाभ उठाकर गोगुन्दा से बादशाही सेनापतियों को निकाल भगाया। गोगुन्दा पर अब फिर राजपूतों का अधिकार था। मेवाड़ में मुग़लों पर भी आक्रमण करके लगभग उसी समय राजपूतों ने अधिकार कर लिया। राजपूतों का यह समवाय बड़ा भयानक था। संयोग ऐसा हुआ कि प्रायः इसी समय मक्के की वार्षिक यात्रा का प्रबन्ध करना था। मक्के का सब से छोटा मार्ग मेवाड़ से होकर जाता था। इस कारण राणा से यात्रियों की रक्षा के निमित्त विशेष प्रबन्ध करने की आवश्यकता थी। इस के अतिरिक्त, प्रताप पर आक्रमण करने के पहले उसके सहायकों को प्रलोभन से या बल से अपनी अधीनता में लाना आवश्यक था। तरसूर ख़ाँ और रायसिंह को जालौर के ताज खाँ और सरोही के राव सुर्तान के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा गया। उनको अपने कार्य में सफलता हुई। सुर्तान और ताजखाँ ने अधीनता स्वीकर कर ली और वे क्षमा-प्रार्थना तथा प्रणाम करने के लिये सम्राट् के पास शीघ्रता से गये। जो सेना मक्के के यात्रियों की रक्षा के लिये भेजी गई थी उसे ईदर के राव नारायणदास के विरुद्ध युद्ध करने का काम

सुपुर्द किया गया। इस सेना के नेता कुतुबुद्दीन और आसफ खाँ थे। उनके लिये आज्ञा थी कि गोगुन्दा और राणा के राज्य में से यात्रियों को सकुशल बाहर पहुँचा दें और जाते हुए आस पास के देहात में लूट-खसोट मचाते जायँ। उनको यह भी आज्ञा थी कि ईदर पर घेरा डाल कर उसे काबू करें, क्यों कि वहाँ नारायणदास ने उपद्रव मचा रक्खा था। वे गोगुन्दा के लिए चल दिये और रास्ते में पिंडबाड़ा पहुँचे। वहाँ उन्हें प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने के लिए बादशाही सेनाओं को ले जाता हुआ राजा भगवानदास मिला दोनों सेनायें मिलकर गोगुन्दा गईं। उसे सर करने में बादशाही सेना को कुछ अधिक कठिनाई नहीं हुई। वे ईदर तक बढ़े चले गये। राव नारायण बड़ी वीरता से इस की रक्षा कर रहा था। अन्त में बादशाही सेनाओं को १६ अक्टूबर १५७६ में ईदर को परास्त करने में सफलता हुई। परन्तु राव नारायणदास पर्वतों में जा छिपा।

१२ अक्तूबर १५७६ को अजमेर छोड़कर अकबर अब गोगुन्दा चला गया था। प्रतिदिन सेना का एक भाग आगे भेजा जाता था ताकि गोगुन्दा जाती हुई बादशाही सेना पर अचानक छापा न मारा जाय। अन्त में इस स्थान पर अधिकार हो गया, और कुछ समय के लिये यह बादशाही सेना का केन्द्र बना रहा। यहां से अकबर नियमित रूप से देश पर अधिकार जमाने लगा। बादशाही सेना की टुकड़ियां

प्रताप के लिये समय समय पर भेजी जाती थीं। भगवानदास और कुतुबुद्दीन अब गोगुन्दा वापिस आ गए थे। वे वहीं रक्खे गये। उनका विशेष काम यह था कि राणा को ढूंढ़ कर पकड़ लें। सेना की एक और टुकड़ी उस ओर से प्रताप का मार्ग बन्द करने के लिये हल्दी घाटी में रक्खी गई।

गोगुन्दा से सम्राट् मोही गया, जहां गाजीखां बदख़शी की अध्यक्षता में सेना की एक और टुकड़ी थी। मोही से वह मुदरिया पहुंचा जहां एक और सेना ठहरा दी गई थी। इसके अनन्तर नवम्बर १५७६ में वह उदयपुर चला गया। सम्भवतः यही स्थान था, जहां कुतुबुद्दीन और भगवानदास महाराणा का पीछा करने के अरुचिकर कार्य से थके हुए, सम्राट् के सामने उपस्थित हुए। उनको अपने कार्य में न केवल असफलता ही हुई थी, प्रत्युत इस काम के लिए उन का उत्साह भी नष्ट हो गया था। इसमें उनको बड़ी कठि-नाइयां उठानी पड़ी थीं। उनको पता लगता कि प्रताप निकटवर्ती ग्राम में है, परन्तु जब तक वे वहां पहुंचते तब तक महाराणा मुग़लों के दिल दहला कर न जाने कहां लुप्त हो जाता। वे अब इसको अधिक काल तक सहन नहीं कर सके। सम्राट् की आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही वे शीघ्रता से उदयपुर गये और सम्राट् से कोई हलका काम देने की प्रार्थना की। अकबर ने सोचा कि ये भयभीत हो गये हैं। दूसरों के लिये उनका उदाहरण बनाने के उद्देश्य से, उसने

कुछ समय के लिए उनका दर्बार में आना बन्द कर दिया। परन्तु कुछ ही समय के बाद भगवानदास को उदयपुर के मार्गों की रक्षा करने का भार सौंपा गया।

प्रताप पहले ही उदयपुर छोड़ चुका था, अतएव अधिक रक्तपात के बिना ही उस पर अधिकार हो गया। मेवाड़ की विजय को और भी सफल बनाने के लिये एक बड़ी सेना यहां रक्खी गई। अकबर ने कुछ समय यहां रह कर यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लिया और उस प्रदेश पर अपने वैभव का प्रभाव डाला। अन्त में उस ने सोचा कि अब मेवाड़ में स्थान स्थान पर समुचित सेना बैठा दी गई है और अब महाराणा को वशीभूत करने का काम सरल हो जायगा। अब वह मालवे के लिये चल दिया। उस का मार्ग बांसवारा होते हुए जाता था। वहां शासक रावल प्रताप सीसोदिया था। अभी तक ऐसा जान पड़ता था कि रावल पर सम्राट् का ध्यान नहीं गया। परन्तु अब जब सम्राट् ने उस के राज्य में पदार्पण कर के उस को सम्मानित किया तो उस की आंखें चौंधिया गईं। और उस ने अधीनता स्वीकार कर ली। डूंगरपुर का रावल आसकर्ण भी सम्राट् की कृपा का इच्छुक था। वह कई बार विद्रोह कर चुका था, परन्तु अब सम्राट् को अपने राज्य के इतने समीप पा कर वह शाही प्रलोभनों के सामने न खड़ा रह सका। उस ने अकबर की अधीनता

स्वीकार की और अपनी एक बेटी भी उसके साथ ब्याह दी।

इधर रायसिंह नाडौल से चला गया था। सरोही का राव सुर्तान फिर विद्रोही हो गया था। रायसिंह को उसे दबाने की आज्ञा हुई थी। रायसिंह ने उस का पीछा कर के उसे उस के पहाड़ी किलों में खदेड़ दिया और सरोही के मैदान मुग़ल सेनाओं के अधिकार में आ गये। अन्त में उस राज्य के सब से दृढ़ दुर्ग आबूगढ़ पर घेरा डाला गया। वह भी मुग़लों के आक्रमणों के सामने न ठहर सका। रावत सुर्तान ने फिर अधीनता स्वीकार की। अकबर बांस-बाड़े से दीपालपुर चला गया था। रावत सुर्तान उस की सेवा में वहीं उपस्थित हुआ। इस प्रकार प्रताप के तीन और सहायकों ने बादशाही शक्ति के सामने सिर झुका दिया। एकमात्र बूंदी ही दुर्जन साल के हाथ में रहा। राणा के पक्ष को इस प्रकार निर्बल होते देख अकबर की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही।। परन्तु उस ने बुद्धिमत्ता इसी में समझी कि दीपालपुर में कुछ दिन और रह कर अन्त में प्रताप को अधीनता स्वीकार करता देखे। क्योंकि वह समझता था कि राणा की पराजय का समय बहुत निकट आ पहुंचा है।

परन्तु प्रताप भयभीत नहीं हुआ था। उस ने ठान लिया था कि जहां तक भी बन पड़ेगा मैं बादशाही सेना के लिये मेवाड़ पर अधिकार जमाना मुश्किल बना दूंगा। बांसवाड़ा में से हो कर बादशाही सवारी के निकल जाने से भी आगरे

की सड़क यात्रा के लिए सुरक्षित न हुई। लगभग इसी समय इतिहासकार बदायूँनी बादशाह के पास दीपालपुर में आया, उसे भी एक लंबा चक्कर काट कर आना पड़ा था।

प्रताप अब बहुत छापे मारने लगा था। वह सब कहीं सदा अचिन्तित रूप से जा पहुंचता था। इस के अतिरिक्त उस के सहायक बादशाही सेना से खिसक आने के लिए सदा तैयार रहते थे। सरोही के राव सुर्तान ने फिर एक बार बादशाही छावनी को छोड़ दिया और राजा नारायण दास ने ईदर में फिर लूट-मार आरम्भ कर दी। १८ दिसम्बर सन् १५७६ में सम्राट् को राजा भगवानदास और कुछ और दूसरे सेनापतियों को गोगुन्दा भेजना पड़ा। वहाँ संभवतः राणा प्रताप एक बार फिर आ धमका था और उस ने बादशाही सेना की भूली भटकी टुकड़ियों को भारी हानि पहुंचाई थी। इतना ही नहीं, वरन् महाराणा को इतनी शक्ति प्राप्त हो गई थी कि उस ने एक सेना राजा नारायण दास के पास, जिस के राज्य पर फिर आक्रमण हुआ था, सहायतार्थ भेज दी। एक छापा मारने की सलाह हो रही थी, जब कि १६ फर्वरी १५७७ को आसफखाँ राजपूतों पर टूट पड़ा और घोर युद्ध के बाद, नारायणदास को परास्त कर दिया। परन्तु राजा फिर बच कर निकल गया।

११ मार्च सन् १५७७ को दीपालपुर में अकबर ने अपने शासन-काल के बाईसवें वर्ष के प्रारम्भ का उत्सव मनाया।

इसी समय यहाँ मक्का के शरीफ़ अर्थात् मुखिया का प्रतिनिधि भी सम्राट् से मिलने आया। अकबर ने यहाँ अपना उत्सव लंबा कर दिया था, क्योंकि उसे प्रताप के घिर जाने और उसकी सेवा में प्रणाम करने के लिए आने का शुभ समाचार सुनने की आशा थी। यद्यपि मानसिंह और भगवानदास ने उस प्रदेश का कोना कोना छान डाला, परन्तु प्रताप उन के लिए एक माया की मूर्त्ति ही बना रहा। ऐसा जान पड़ता था कि उस के हाथ में कोई जादू है। अपने विश्वासपात्र भीलों की सहायता से वह एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर ऐसे मार्गों से जा पहुँचता था कि जिन को बादशाही सेना कभी भी न पा सकती थी। परन्तु वह केवल अपनी रक्षा का ही कार्य नहीं कर रहा था। इन प्रदेशों में सम्राट् की उपस्थिति भी गुजरात के बड़े मार्ग को यात्रियों के लिये बादशाही सेना की रक्षा में भी सुरक्षित नहीं बना सकी थी। नारायणदास और सुर्तान के बार बार के विद्रोहों का भी कुछ अर्थ था। दुर्जनसाल बूंदी में काफ़ी काँटे बिछा रहा था। अपनी सामान्य रीति के अनुसार, उसने मैदान बादशाही सेनापतियों के हाथ छोड़ दिये। और आप बूंदी के ऊँट की गर्दन ऐसे पहाड़ों पर चला गया। बादशाही सेनापति ज़ैनखां ने उसका यहां भी पीछा किया। यहां तक कि दुर्जनसाल का मिलना मुश्किल हो गया। बूँदी रावभोज के हाथ रही और राव सुर्जन रण-

थम्भोर में रहा। यदि सम्राट् नीतिज्ञ था तो प्रताप भी कम न था। वह बादशाही सेनापतियों के लिये अड़ोस-पड़ोस में काफी काम तैयार रखता था। यहां छः महीने से भी अधिक रहकर १२ मई १५७७ को सम्राट् फतहपुर लौट गया। परन्तु वह बादशाही अभीष्ट को एक इंच भी आगे न बढ़ा सका। प्रताप अब भी स्वतन्त्र फिरता था। उसने उदयपुर और गोगुन्दा में ठहरी हुई बादशाही सेनाओं को चाहे अस्थायी रूप से ही क्यों न हो, वहां से निकाल दिया था। बस यही कुछ था जो हल्दीघाट की विजय से और उसके बाद उस प्रान्त पर मुग़ल-सेना के अधिकार से सम्राट् को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सम्राट् को एक बार फिर असफलता हुई।

—–o–—

सातवाँ प्रकरण ।

कुम्भलगढ़ पर धावा ।

ज्योंही अकबर मेवाड़ से निकला, प्रताप के वीर राजपूतों को मौका मिल गया । जो सेनापति पीछे दुर्गों के रक्षार्थ रक्खे गए थे उनके विरुद्ध नियमपूर्वक युद्ध का संगठन किया गया । एक आक्रमण सुस्पष्ट रूप से सफल रहा । मजाहद बेग को एक सेना का अध्यक्ष बनाकर मोही में छोड़ा गया था और यहां वह कुछ काल तक रहा । परन्तु जब मानसिंह और उस के साथियों की सेनाएँ, जो रक्षा कर रही थीं वहां से चली गई तो प्रताप के सैनिक उस पर टूट पड़े और वह युद्ध में मारा गया । सितम्बर १५७७ में राजपूतों ने मोही पर अधिकार कर लिया । सम्राट् ने इस स्थान को फिर कुछ काल तक जीतने का प्रयत्न नहीं किया ! गोगुन्दा और उदयपुर की बादशाही सेनायें भी वहां से निकाल दी गईं । जो सेनायें राणा का पीछा करने के लिये भेजी गईं थीं उनमें से अधिकांश अपनी असफलता की सूचना देने के लिए दर्बार में लौट आई थीं । अक्तूबर सन् १५७७ में सम्राट् मेरठ में था । उस समय यह

अनुभव किया गया कि राणा के कार्यों को अब चुपचाप सहन करते जाना कठिन है। इस बार एक बहुत बड़ी मुहिम शाहबाज़खां, मीरबख्शी के नेतृत्व में तैयार की गई। उसमें जयपुर के राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, प्रसिद्ध सैयद बंधु, सैयद कासिम, सैयद हाशिम और सैयद राजू, ढाई हज़ार अश्वारोहियों के सेनापति मुहम्मद प्यादा खाँ मुग़ल, तीन हज़ार सवारों के सेनापति शरीफ खां ऐकाब और गाज़ी खाँ बदख़शी जैसे बड़े बड़े सेनानायक भी सम्मिलित थे। इस सेना ने १५ अक्तूबर १५७७ को मेरठ से कूच किया और प्रस्तुत कार्य में लग गई। मेवाड़ पहुँचने पर उन्होंने राणा प्रताप को खुले बंदों फिरते पाया। वे डरे कि वह कहीं फिर हमारे हाथ से न निकल जाय। इसलिए उन्होंने बाद-शाह से और कुमक देने की प्रार्थना की। दो हज़ार अश्वा-रोहियों का सेनानायक फतहपुर सीकरी के शेख सलीम का बड़ा भाई शेख इब्राहीम फतेहपुरी अजमेर के निकट लड़लाई का सूबेदार नियुक्त किया गया जिस से वह सीमा प्रदेश पर दृष्टि रख सके।

शाहबाज़ खां ने अब उदयपुर से चालीस मील उत्तर कुम्भलगढ़ के किले को सर करने का विचार किया। यह दुर्ग एक अगम्य पहाड़ी पर स्थित है। और पहले कचित ही सर हुआ होगा। इस की रक्षा के लिए इस के इर्द गिर्द बहुत सी दीवारों की पंक्तियां और ३५६८ फुट ऊंचे पर्वत

की ढलान पर बने हुए बांध तथा गढ़ियां हैं। दुर्ग के अन्दर अनेक गुम्मददार इमारते हैं। उन में पहुंचने के लिये कई फाटकों से होकर टेढ़े मेढ़े मार्ग से जाना पड़ता है। शाहबाज़ खां, भगवानदास और मानसिंह को वापिस भेज दिया, क्योंकि उन पर महाराणा प्रताप की ओर झुके होने का संदेह था। अपने इस कर्म से उस ने सिद्ध कर दिया कि वह अपने काम को कितना गम्भीर समझता था। इस प्रकार अपनी सेना में जिसे वह विपरीत वस्तु समझता था उसे दूर कर देने के बाद वह कुम्भल गढ़ की ओर बढ़ा।

यह बात द्रष्टव्य है कि इस संशोधित सेना में एक भी गण्य-मान्य हिन्दू अफसर नहीं था। भगवानदास और मानसिंह का वापिस भेजा जाना भी सांकेतिक था। उनको मेरठ से सम्राट् ने पूर्ण विश्वास के साथ भेजा था। फिर उन के मेवाड़ आने पर ऐसी कौन बात हुई कि जिस से बादशाही सेना से उनका अपमान-पूर्वक निकाल दिया जाना अनिवार्य हो गया, उनका केवल पहले का आचरण ही शाहबाज़ खाँ के इस अचानक कार्य को उचित नहीं ठहरा सकता था। शाहबाज़ खाँ को मानसिंह की राणा के साथ युद्ध करने की रीति का ज्ञान था, जब सम्राट् ने उसे ये दो राजपूत सेनानायक सहायक के रूप में दिए थे। उनका आपस में ज़रूर कुछ झगड़ा हो गया होगा। क्या इन दोनों सेनानायकों ने राजपूतों की इस पुण्य भूमि को अक्षत रखने

पर ज़ोर दिया हो, यद्यपि यहाँ पर मुग़ल सेनायें बारबार नष्ट हो रही थीं ? और ऐसा करने के लिये क्या उन्होंने जिस अरुचिकर कार्य में शाहबाजखाँ निरत था उस में भाग लेने के बजाय सेना से निकाला जाना अधिक पसंद किया ? आगे सिर झुकाकर और उससे विवाह-सम्बन्ध जोड़ कर ही वे पहले पर्याप्त पतित हो चुके थे। परन्तु अब वे और अधिक पतन नहीं चाहते थे। सम्राट् इस आत्माभिमानी सीसोदिया सरदार को अपनी अधीनता में लाने के लिये तुला हुआ था। वे उसे इस हठ से हटा नहीं सके। परन्तु यदि उन्हें इस काम पर नियुक्त किया गया तो वे इसे अपनी ही शैली से करेंगे और दया के साथ करेंगे। यदि वे ऐसा न कर सकते और यदि राणा के साथ सर्वनाशकारी युद्ध होने को होता तो वे इस में सहायक होना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपनी इच्छा को यहां तक प्रकट रूप दे दिया होगा कि जिससे शाह-बाजखाँ का सम्राट् के इतने निकट सम्बन्धियों को अप-मान सहित वापिस भेजना उचित समझा गया। सम्भवतः उसने एक अच्छा छुटकारा भी समझा होगा, क्योंकि वह अपनी कार्य-सिद्धि के हेतु संत्रास-दायक विधियों का उपयोग करने पर कटिबद्ध हो रहा था। वह उस प्रदेश को बिलकुल उजाड़ डालना चाहता था और इस योजना का उन्होंने अवश्य विरोध किया होगा।

राजपूत सेना-नायकों के चले जाने पर वह पहले केलवारा की ओर बढ़ा। यह स्थान कुम्भलगढ़ से लगभग ३ मील की दूरी पर उन पहाड़ों के नीचे है, जिन पर कि दुर्ग अपनी शान के साथ खड़ा है। केलवारा ले लिया गया। वहां से मुग़ल सेना ने कुम्भल गढ़ के लिये कूच किया। घोर युद्ध के बाद ३ एप्रिल सन् १५७८ को गढ़ सर हो गया। एक बड़ी तोप क़िले में फट गई। इस से दुर्ग को बड़ी हानि पहुँची। इस घटना ने दुर्ग का पतन आसान कर दिया। परन्तु चिड़िया उड़ गई थी। कुछ रात पहले गढ़ की रक्षा का भार भामा को सौंप कर प्रताप वहां से चला गया था। गढ़ में घुसने पर मुग़लों के उत्साह पर एक गहरी चोट पहुँची। शाहबाज़ खाँ ने इतनी चौकसी से घेरा डाला था कि उसे राणा के इस बार फंस जाने का पूर्ण विश्वास था। परन्तु उस की आशा दुराशामात्र सिद्ध हुई। वह अपने शत्रु को नहीं जानता था, जो इस समय रामपुरा के सुरक्षित गढ़ में छावनी डाले पड़ा और वहां से बासवारा जा रहा था। शाहबाजखाँ ने शीघ्रता से उसका पीछा किया और क़िले को गाजीखाँ बदख्शी के पास छोड़ दिया। प्रताप आसानी से पकड़ा नहीं जा सकता था। शाहबाजखां ने ४ अप्रैल को गोगुन्दा पर विजय पाई और उसी रात उदयपुर को भी जीता। प्रताप यहां भी न था। शाहबाजखां नगरों के नष्ट करने में लगा रहा। उसे शीघ्र ही मालूम हो गया कि महा-

राणा को पकड़ना लोहे के चने चबाना है। वह किसी बहाने की ताक में था कि जिससे वह सम्राट् के पास लौट सके। भाग्य ने भी उसका साथ दिया। बूँदी का राजा दुर्जनसाल सन् १५७६ से महाराणा का सहायक रहा था, और इस समय भी उस की सेना का सहायक था। शाहबाज़ खाँ ने उसे फोड़ कर अपने साथ मिलाने की बात-चीत छेड़ी। अन्त में वह उसे बादशाही नौकरी के प्रलोभन में फंसाने में सफल हुआ। यह उसके लिये एक महान विजय थी। इस प्रसन्न करने वाले समाचार के साथ और कुम्भल गढ़ की विजय का श्रेय प्राप्त कर उसने तीन महीने रह कर मेवाड़ से कूच किया और १७ जून १५७८ को पंजाब के थारा नामक स्थान पर सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ। अकबर शाहबाज खाँ की सफलता का समाचार सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। मेवाड़ छोड़ने के पहले उस ने उस प्रदेश में ५० स्थानों पर और आस पास के ३० और प्रान्तों में मुग़ल-सेना बैठा दी। शाहबाज़ खाँ के चले जाने पर प्रताप को फिर अवसर मिल गया। उसका प्रधान मन्त्री भामाशाह कुम्भल गढ़ के घेरे में मौजूद था परन्तु वहां से सकुशल बच निकला था। वह मालवा में जा छिपा था। वहाँ रामपुरा के राव दुर्गा ने उसे एक सम्मानित अतिथि के रूप में रक्खा था। भामाशाह ने जल्दी ही एकान्त से बाहर निकल कर

विश्वासपात्र सैनिकों की एक बड़ी सेना एकत्रित की। इस सेना ने भामाशाह और उसके भाई ताराचन्द के नेतृत्व में मालवे को लूटा और जिन प्रदेशों में से होकर वह निकली वहाँ से उसने २५,००००० रुपये और २०,००० मुहरें इकट्ठी कीं। प्रताप इस समय चुलिया में था। यह धन उन्होंने वहाँ ले जा कर उसकी भेंट कर दिया। प्रताप उनकी वीरता से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने भामाशाह को दुबारा अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया। अपनी सेना को दुगना करके प्रताप ने मुग़ल सेना से रक्षित दिबेर के दुर्ग पर धावा बोल दिया। और सुलतान खाँ के नेतृत्व में जो बादशाही सेना वहां थी उसको निकाल भगाया। यहाँ पर घोर संग्राम हुआ था। अमरसिंह अकेला ही मुग़ल सेनापति से लड़ा था। उस ने सेनापति को मार कर बड़ा नाम पाया था। दिबेर से मुग़ल सेना के निकाले जाने का बड़ा प्रभाव पड़ा। अनेक स्थानों पर रक्षा करनेवाली सेनाएँ उतनी मज़बूत न थीं। वहाँ के सेना-नायक अपने गढ़ छोड़ कर भाग गए। कुम्भल गढ़ के समीप हमीरसर तक महाराणा बढ़ा चला गया। कुम्भलगढ़ को भी मुग़लों ने जल्दी ही खाली कर दिया। शीघ्र ही राजपूतों ने ओबरात और जावर के दुर्गों पर और छप्पन के प्रान्त पर अधिकार कर लिया। परन्तु कुम्भल गढ़ महाराणा के लिये अभी तक सुरक्षित स्थान न था। इस लिये उसने चवन्द अपना सदर मुकाम बनाया। यहां एक

मन्दिर बनाया गया और एक प्रासाद खड़ा किया गया।

भामाशाह का भाई ताराचन्द अभी मालवा में ही था। शाहबाजखां और ताराचन्द का मुकाबिला बस्ती नामक ग्राम में हुआ। यहां ताराचन्द घायल होकर परास्त हुआ। परन्तु यहां के राव साईदास ने घायल मेवाड़ सरदार की सेवा की और उस को अच्छा कर लिया। शाहबाजखां के चले जाने पर ताराचन्द को सम्मान के साथ नई राजधानी चवन्द में लाया गया। कुम्भलगढ़ पर मुग़लों ने विजय पाई थी परन्तु वह फिर उनके हाथ से निकल गया। शाहबाजखां आया और चला गया। उस के सारे परिश्रम का फल केवल इतना हुआ कि छः मास के अन्दर ही प्रताप फिर स्वतन्त्र विचरने लगा। जैसा कि हम देख चुके है, उसने मुग़लों को उन दुर्गों से निकाल दिया और उसने मालवे पर भी चढ़ाई की। पर प्याला भरने के लिये अन्तिम बून्द अब गिरी। डूँगरपुर के राव लूनकर्ण और बांसवाड़े के रावत ने सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली। महाराणा ने अब उनके विरुद्ध रावत भाना की अध्यक्षता में एक मुहिम भेजी। इस कार्य में जोधपुर के राव चन्द्रसेन ने भी उसको सहयोग दिया। सोमनदी के किनारे दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। बड़ा घोर संग्राम हुआ। राणा की सेना अन्त में विजयी हुई। परन्तु उसके सेनापति का पुत्र मारा गया। दोनों सरदारों ने बादशाही जुये को कन्धों से

उतार फेंका और राणा की अधीनता स्वीकार की।

अधिक संभव यही है कि इन छोटी छोटी लड़ाइयों के समाचार सुनकर ही अकबर ने १५ दिसम्बर १५७८ को शाहबाजखां को डबल कूच करते हुए भेजा। इस मर्तबा उसके साथ गाजी खां, जो कि हल्दीघाटी के युद्ध में भी रहा था, मुहम्मद हुसैन, ५००० अश्वारोहियों का सेनापति मीरबर्र शेख तैमू बदख्शी, और मीरजादा अलीखां उसके साथ थे। बहुत सा धन भी शाहबाजखां को सौंपा गया। शायद इसलिये कि वह राणा के उन सहचरों में बांटा जाय जो धन से खरीदे जा सकते हों। कहते हैं, शाहबाजखां को अपने काम में शीघ्र ही सफलता प्राप्त हुई। १० जून १५७९ को राजधानी में लौटकर उसने अपनी सफलता का समाचार सम्राट् को सुनाया, जिसे सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। वह अपने पीछे उस प्रदेश में, जिसमें वह लूट-पाट मचा सका था परन्तु जिसे वह जीत नहीं सका, एक बड़ी मज़बूत बादशाही सेना बैठा आया।

परन्तु मेवाड़ में शाहबाज़खां के काम का अभी अन्त नहीं हुआ था। वह सम्राट् के साथ ही था। जब १७ अक्तूबर १५७९ को सम्राट् अजमेर गया तो वह भी उसके साथ था और सम्राट् के फतहपुर लौटने तक दरबार में ही रहा। १२ नवम्बर १५७९ को जब सम्राट् आगरे जाने लगा तो उस ने शाहबाज़खां को उस सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया।

जो महाराणा प्रताप के उपद्रव को दबाने के लिये दुबारा एकत्रित की गई थी। अकबर ने अभी अपने को श्रद्धावानों का धार्मिक नेता विघोषित किया ही था और धर्म्म-संबंधी बातों पर सम्राट् और शाहबाज़खां के बीच मनोमालिन्य भी हो गया था। इस उच्च पद पर इस बार की उसकी नियुक्ति दो बातों की सूचक थी। एक तो यह कि ऐसा करना उसकी वीरता का सम्मान करना था और दूसरा यह इस बात का संकेत था कि सम्राट् के निकट उसकी उपस्थिति अवांछनीय थी। यह तीसरा अवसर था कि शाहबाजखां को मेवाड़ की स्वतन्त्र कमान दी गई। और उसने निश्चय कर लिया कि इस बार इस महत्त्वपूर्ण कार्य में किसी प्रकार की कसर न रक्खूँगा वह बड़ी गम्भीरता से इस में लग गया। महाराणा प्रताप के अतिरिक्त राव चन्द्रसेन भी मुग़ल सेनाओं के लिये काम बढ़ा रहा था और साहस करके अजमेर तक जा पहुँचा था। एक दूसरी सेना पैंडा मुहम्मद खाँ के अधीन राठौर से भिड़ने के लिये भेजी गई और शाहबाज़ खाँ एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रताप के पीछे-पीछे भागने लगा। मुग़ल-सेनाओं के इस प्रकार निरन्तर पीछा करते रहने का असर महाराणा के अल्प से साधनों पर पड़ने लगा था। इस बार कम से कम थोड़े समय के लिये, उसे एक हारता हुआ युद्ध लड़ना पड़ा। पहाड़ों में छिपने के लिए उसके पास बहुत स्थान था। परन्तु शाहबाज़ खाँ महाराणा को निकल भागने का अवसर

नहीं देना चाहता था। पीछा किये जाने से थक कर महा-राणा ने अन्त में आबू से १२ मील सोधा के पहाड़ों में शरण लेने का निश्चय किया। यहां लोयाना के राय धूल ने उसका आतिथ्य किया और अपनी बेटी उसे ब्याह दी। प्रताप ने अपने श्वसुर को राणा की उपाधि प्रदान की और इस प्रकार प्रतिष्ठा में उसको अपने बराबर बना दिया। जब तक शाह-बाज खाँ असफलता के कारण पहाड़ी दर्रों में अड़ा रहा तब तक वह यहीं रहा। प्रताप बच कर निकल गया था और चाहे वह कुछ भी करे, शाहबाज़ खाँ इस सत्य घटना से होने वाली लज्जा को छिपा नहीं सकता था। वह मई १५८० तक राजपूताने में रहा। इसके पश्चात् उसने राजधानी के लिए प्रस्थान किया, जहाँ वह १२ जून १५८० को पहुँच गया।

पृथ्वीराज का उपाख्यान।

जिस समय मेवाड़ पर शाहबाज़ खाँ का अधिकार था। सम्भवतः उसी काल में पृथ्वीराज का प्रसिद्ध उपाख्यान ठहराया जा सकता है। कर्नल टाड ने कहीं से यह कहानी सुनी थी कि इस दौड़ धूप के जीवन से तङ्ग आकर प्रताप ने बादशाह से क्षमा माँगी थी। अकबर इस मेवाड़ के वीर सर्दार को अपनी छत्र-छाया में आते देख अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अपने इस सौभाग्य पर वह फूला न समाया। उसने यह बात खुले दर्बार में कह सुनाई। दर्बार में बीकानेर के राय

कल्याणमल का छोटा लड़का राय पृथ्वीराज भी जो राजपूताना का सर्वश्रेष्ठ कवि था, उपस्थित था। स्वयं तो वह अकबर का दर्बारी था, परन्तु उसको प्रताप की प्रतिष्ठा के पालन करने की शक्ति में अथाह श्रद्धा थी। वह अपने कानों पर विश्वास न कर सका। अन्त में उसने अपनी कवित्व शक्ति की पंक्तियाँ लिख कर सम्राट् की आज्ञा से, एक विशेष हरकारे द्वारा प्रताप के पास भेज दीं।

"पातल जो पतसाह, बोले मुख हुन्ता बयण।
मिहर पछमदिस मांह, ऊगै कासप राववत॥
पटकूं मूंछां पाण, कै पटकूं निज तन करद।
दीजै लिखे दीवान, इण दो महली बात इक॥"

अर्थात्—"मेरे लिये यह विश्वास करना कि प्रतापसिंह ने अकबर को अपना बादशाह कह कर पुकारा है उतना ही असम्भव है जितना कि सूर्य को पश्चिम से उदय होते देखना। हे दीवान! मुझे बतलाइये कि मेरी क्या स्थिति है? क्या मैं अपनी गर्दन पर अपनी खड्ग का प्रहार करूँ या मैं अपने गर्व को पूर्ववत् बनाए रक्खूं?"

कथा कहती है कि इन पंक्तियों को पढ़कर प्रताप का गिरता हुआ साहस फिर खड़ा हो गया। उस ने बादशाह के सामने झुकने के विचार का तत्काल परित्याग कर दिया। उस ने पृथ्वीराज को निम्न लिखित उत्तर भेजा:—

"तुरक कहा सी मुख पतों,
इण तन सूं इक लिङ्ग ।
ऊगै जांही ऊग सी,
प्राची बीच पतङ्ग ॥
खुसी हून्त पाथल कमध,
पटकों मूंछां पाण ।
पछटन है जेतै पतौ,
कलमा सिर के वाण ॥
सांग मूंड़ सह सीसको,
समजस जहर सवाद ।
भड़ पीथल जीतो भलां,
वैण तरुकसू वाद ॥

"एक लिङ्ग भगवान् की शपथ खा कर कहता हूँ—कि प्रताप बादशाह को केवल तुर्क ही कह कर पुकारेगा और सूर्य पूर्व में ही निकलेगा। जब तक मुग़लों के सिर पर प्रताप का खड्ग नाच रहा है तब तक तुम अपनी गति गर्वपूर्ण ही रक्खो। यदि प्रताप सांगा के बराबर का मान और प्रतिष्ठा अपने प्रतिद्वन्द्वी अकबर के लिये होती हुई सहन करे तो उसे सांगा की हत्या का दोष लगेगा। निस्सन्देह पृथ्वीराज, इन शब्दों के झगड़े में तुम्हीं को जयलाभ होगा।"

कहते हैं पृथ्वीराज इस उत्तर को पाकर फूला न समाया।

वह भागा हुआ सम्राट् के पास गया और उसे विश्वास दिलाया कि सीसोदिया सरदार अभी उस की अधीनता स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं। उस ने प्रताप को निम्न लिखित उत्तर पद्य में भेजा, और उस की यथोचित प्रशंसा की।

"संसार रूपी बाज़ार में लज्जा रहित स्त्रियां और सम्मान रहित पुरुष भरे पड़े हैं और अकबर उन का खरीदार है। ऐसी संगति में प्रताप आ कर क्या करेगा ? मुसलिम के नौरोज़ में प्रत्येक हिन्दू ने अपने आप को बेच दिया है। परन्तु हिन्दू-पति वीर प्रताप, अपने स्वाभिमान को दिल्ली के इस बाज़ार में नहीं बेचेगा। हमीर-कुल-भूषण प्रताप, चालाक अकबर की लालसा और लोभ भरी हुई दृष्टि अपने ऊपर न पड़ने देगा। उस की स्वतन्त्रता का छिन जाना उस के लिये भारी चोरी होगी और अधीनता स्वीकार करके सुख में रहना सब से बड़ा अपमान होगा। इसी लिये प्रताप राजपूतों की प्रतिष्ठा को बादशाही दरबार में न बेचेगा। दूसरे राजपूतों ने अपने को बेच कर दास बना लिया है, परन्तु अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा को स्मरण कर प्रताप ने अपनी ध्वजा को फहराती हुई रक्खा है। धूर्त अकबर एक दिन संसार से चला जायगा और उस का बाज़ार अन्तर्धान हो जायगा। परन्तु आनेवाली सन्तान प्रतापसिंह को राजपूतों की मर्यादा का रक्षक कह कर याद

करेगी। सारे संसार को चाहिये कि उस के पद-चिन्हों पर चले।' [देखो महाराणा यश प्रकाश पृ० ६४]

यह कथा कुछ अधिक विश्वास के योग्य नहीं। अबुल फ़ज़ल भी जो प्रत्येक घटना को तोड़ मरोड़ कर बादशाह के मतलब की बनाने में बड़ा सिद्धहस्त था, प्रताप की अप-कीर्ति फैलाने वाली इस घटना के विषय में बिलकुल चुप है। और न कोई दूसरा मुसलमान इतिहासकार ही इस घटना का वर्णन करता है। यद्यपि बीकानेर का मौखिक ऐतिह्य इस कथा का समर्थन करता है, तो भी १७वीं शताब्दी के इतिहास में इस घटना का उल्लेख कहीं नहीं मिलता और न लगभग एक शताब्दी पूर्व के दयालदास के इतिहास में ही इस का कुछ पता चलता है। इस के अतिरिक्त, यह सारी कथा अनहोनी सी प्रतीत होती है। इस में यह नहीं बताया गया कि प्रताप ने अकबर के साथ समझौते की बात कैसे प्रारम्भ की। क्या विश्वास हो सकता है कि जिस अकबर ने मानसिंह को मेवाड़ से वापिस बुला कर इस लिए झिड़का था कि उस ने महाराणा के विरुद्ध काफी कठोरता से काम नहीं लिया, पृथ्वीराज को प्रताप की विपत्ति में ढारस बँधाने की आज्ञा देकर अपने जीवन की परम अभि-लाषा को छिन्न-भिन्न होने देता! एक और भी बात है। पृथ्वीराज प्रताप के प्रति सम्मान का भाव अपने चुपचाप हृदय में रख सकता था, वह कविता में उस का यशोगान

भी कर सकता था। परन्तु यह मानना असम्भव सा जान पड़ता है कि वह अपनी लज्जा में मस्त था। अकबर को बुरे बुरे नामों से याद करता था, प्रताप को विद्रोह और अराजकता के पाठ पढ़ाता था, और वह भी सब सम्राट् की आज्ञा से? तब राजपूताना में जो कथा परम्परा से प्रचलित है, उस की क्या व्याख्या हो सकती है? इस पर दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि क्या प्रस्तुत पद्य पृथ्वीराज की रचना है? इस विषय पर समालोचक एकमत नहीं हैं। इस के अतिरिक्त क्या पहले दो पद्यों को केवल प्रताप के अभिप्रेतवशित्व की कहानी में विश्वास कर के ही समझाया जा सकता है? ईरानी इतिहासकार, जैसा हम देख चुके हैं ऐसी किसी घटना का कुछ भी वर्णन नहीं करते। फिर मेहता नैनसी भी इस प्रश्न पर चुप है। ऐसी दशा में हमें विश्वास करना पड़ता है कि प्रस्तुत पद्य, यदि पृथ्वीराज ने ही इनको लिखा है, तो वे केवल महाराणा के प्रति उस के पूजा-भाव के सूचक हैं। परन्तु पृथ्वीराज का पहला पत्र जिस में वह प्रताप के संकल्पों के विषय में पूछता है, समझ में नहीं आता। पर उस से अकेले कोई विशेष अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। मेवाड़ में पाया जानेवाला ऐतिह्य इस कथा का समर्थन करता है। यद्यपि वह केवल इतना ही कहता है कि प्रताप के संकल्पों का पता किसी प्रकार दिल्ली में बादशाह को लग गया था।

जब शाहबाज़ खाँ ने मेवाड़ छोड़ा तो इन प्रान्तों के

विद्रोहियों के दबाने का काम तीन हज़ार अश्वारोहियों के सेनापति दस्तम खाँ को सौंपा गया। दस्तम खाँ सन् १५७७ से अजमेर का सूबेदार था। उसके भाग्य में विशेष सफलता प्राप्त करना न बदा था, क्योंकि जयपुर में राज्य करने वाले कछवाहा वंश के कुछ लोगों के विरुद्ध चढ़ाई में वह १६ जून सन् १५८० को घायल हो गया। दूसरे दिन शेरपुर में उसकी मृत्यु हो गई। सम्राट् ने उसका बड़ा शोक मनाया।

सूबेदारी के रिक्त स्थान पर अब मिर्ज़ा अब्दुर्रहीम खाँ की नियुक्ति हुई। यद्यपि कछवाहा उत्पात का अन्त हो चुका था तो भी अकबर ने अब्दुर्रहीम को अनेक और भाँति भाँति के अनुशासन देना आवश्यक समझा। प्रताप की बदौलत अब अजमेर की सूबेदारी बादशाह के पास सब से बड़ा मनसब हो गया था और वहाँ के सूबेदार के लिये चतुर नीतिज्ञ का होना आवश्यक था। अब्दुर्रहीम मेवाड़ के विरुद्ध पहले भी काम कर चुका था। हल्दी घाट के युद्ध के बाद जब अकबर ने मेवाड़ में लूट-मार मचाई तो वह उस के साथ था। जब शाहबाज खाँ ने सन् १५७६ में मेवाड़ पर आक्रमण किया तो अब्दुर्रहीम भी उसके सेनापतियों में से एक था। अब जब अजमेर की सूबेदारी खाली हुई, तो अपने पहले अनुभव के कारण वह वहाँ का सूबेदार बनाया गया।

ख़ानेख़ाना अब क्या करता ? उसने मेवाड़ को अकबर

की सेनाओं द्वारा पद-दलित होते देखा था फिर भी उन्हें मेवाड़ पर विजय प्राप्त न हुई। जिस समय शाहबाज खाँ ने राणा से अधीनता स्वीकार कराने के लिये अतीव भीषण विधियों से काम लेना शुरू किया था, उस समय वह भी उसका सहायक था। परन्तु उस से भी कुछ प्रयोजन सिद्ध न हुआ था। क्योंकि मिर्जा एक स्वतन्त्र सेनानायक के रूप में इस अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य का अधिकारी बना था। इस लिये आवश्यक था कि वह अपने लिये कोई मार्ग ढूंढ निकालता।

परन्तु भावी ने षड्यन्त्र रचकर उसके हाथ से यह कार्य ले लिया। उसने मेवाड़ पर चढ़ाई की। वह शेरपुरा में सकुटुम्ब ठहरा हुआ था। प्रताप का ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी कुंअर अमरसिंह गोगुन्दा में सेनाध्यक्ष था। उसने शेरपुरा पर चढ़ाई करके मिरजा के कुटुम्ब को पकड़ लिया। जब प्रताप ने यह सुना तो उसने तत्क्षण उनको छोड़ दिया और सम्मान पूर्वक मिर्ज़ाखां के पास भेज दिया। मिर्ज़ा के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कवि तो वह था ही। वह एकदम बोल उठा—

'ध्रम रहसी रहसी धरा, खिस जासे खुरसान।
अमर विसम्भर उपरैं, रखियो नहचो राण॥'

इस संसार में सब कुछ नश्वर है; भूमि और धन चले जांयगे, परन्तु बड़े नाम की भलाई सदा रहती है। प्रताप ने

धन और पृथ्वी छोड़ दी है, परन्तु भारत के सारे राजाओं में से एक उसी ने सर नहीं झुकाया है। उसने अपनी मर्यादा का पालन किया है।"

इस बन्धु भाव ने अब्दुलरहीम को राजपूताने में सफल कार्य करने के अयोग्य बना दिया और सन् १५६१ ई० के अन्त के लगभग उसे वापिस बुला लिया गया।

नोट—टाड का अनुवाद इस प्रकार है। भाव को दर्शाने के लिये इससे अच्छा अनुवाद दूसरा नहीं मिल सकता—खुरासान अर्थात् राज्य वैभव छिन जाता है पर धर्म और धरा सदा रहते हैं। राणा ने भगवान पर निश्चय रखकर अपनी प्रतिष्ठा को अमर बनाया है।

आठवाँ प्रकरण

मेवाड़ पर अन्तिम चढ़ाई

बादशाही नीति में परिवर्तन।

सम्भवतः लगभग यही समय था जब प्रताप को एक और बड़ी क्षति उठानी पड़ी। उसका भाई जगमल बहुत देर तक बादशाही दरबारी रह चुका था और सन् १५८१ से सरोही का संयुक्त शासक भी था। उस की महत्त्वाकांक्षा शीघ्र ही इतनी बढ़ गई कि उसका तृप्त होना कठिन हो गया। उसने राव सुर्तान को, जो कि सरोही का वास्तविक राजा था, पहले अपने महल से और फिर राज्य से भी बाहर निकाल दिया। सुरतान ने आबू की पहाड़ियों की शरण ली, जगमल ने सोचा कि जब तक सुर्तान आबू की पहाड़ियों में छिपा हुआ है, तब तक मैं सरोही में शान्ति से राज्य न कर सकूँगा, इस लिये उसने अक्टूबर सन् १५८३ में उन प्रान्तों पर चढ़ाई कर दी जो अभी तक भी सुर्तान के अधिकार में बने हुए थे। दत्तानी नामक स्थान पर १७ अक्तूबर १५८३ को एक भीषण संग्राम हुआ। रायसिंह राठौर जगमल की स्थानीय सेना की सहायता के लिये भेजा

गया। परन्तु सम्मिलित मुग़ल सेनाएं भी सुर्तान के चौहानों की भीषण देशभक्ति का सामना न कर सकीं। रायसिंह और जगमल को सुर्तान को उस की पैत्रिक सम्पत्ति से निकाल देने का इस प्रकार दुस्साहस करने के दण्ड में अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। और मुग़ल सेनायें सुर्तान को अधिकार में छोड़ शीघ्रता से वापिस चली गईं।

जगमल प्रताप को छोड़कर शत्रु से जा मिला था। यद्यपि जगमल उसका भाई ही था तो भी प्रताप ने इस बात की आवश्यकता न समझी कि अपने एक मित्र के हाथों होने वाली उसकी मृत्यु पर शोक मनावे। साधारणतया इस घटना पर कोई ध्यान भी न दिया जाता, परन्तु उसमें एक विवाह सम्बन्ध की उलझन आ पड़ी। प्रताप की पोती, राव अमरसिंह की पुत्री की सगाई लगभग इसी समय करनी थी। एक योद्धा की वीरता के सत्कारार्थ प्रताप ने उसका विवाह-सम्बन्ध सुर्तान के साथ करने का निश्चय किया। परन्तु जगमल के छोटे भाई सागर ने इस प्रस्ताव पर आपत्ति की। प्रताप चाहता था कि व्यक्तिगत भेदभावों को मिटा दिया जाय और जगमल के कारण दूसरी पारिवारिक कलहों को छोड़ दिया जाय, क्योंकि जगमल भाग कर शत्रु से जा मिला था। परन्तु सागर इसके लिए तैयार न था। उसे आशा थी कि जगमल की हत्या का बदला लेने के लिए प्रताप सुर्तान से युद्ध करेगा, चाहे जगमल

बादशाही नौकरी में मारा ही गया था। सरोही और मेवाड़ के घरानों को जोड़ने का यह प्रस्ताव ऐसी आपत्ति के समय में उसको अरुचिकर जान पड़ा। प्रताप ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक ऐसा कार्यक्रम बनाया था जो उसके कुछ कट्टर पंथी राजपूत अनुयायियों को बिलकुल नास्तिकता ही जान पड़ी। उसने प्रण किया था कि सारे व्यक्ति भेद भावों को भुला कर सीसोदियों का झण्डा फहराता रक्खूंगा। उसने अपने सुखों का परित्याग कर दिया था। फिर उसे एक कौटुम्बिक कलह के मोह की क्या परवा थी। यदि उसे दबा कर वह अपने और वीर सुर्तान के बीच मित्रता को दृढ़ कर सकता। यह विवाह एक वीर का दूसरे वीर के प्रति राज-सम्मान मात्र ही था। सागर की प्रार्थना पर प्रताप ने विवाह-सम्बन्ध की बात चीत को बन्द करना अस्वीकार कर दिया और फल यह हुआ कि सागर ने मेवाड़ छोड़ दिया। वह दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसे दो सौ अश्वारोहियों के सेनापति का तुच्छ पद पेश किया गया। उसने तुच्छ और नश्वर वैभव के लिये अपने देश को बेच दिया।

सम्भवतः सागर के इस जाति-विद्रोह के कारण ही अकबर ने अपनी नीति को बिलकुल पलट दिया। जब से मानसिंह ने सन् १५७६ में मेवाड़ के प्रति नरमी का बर्ताव दिखलाया था तब से कोई भी राजपूत सेनापति मेवाड़ की मुहिम का मुखिया बना कर नहीं भेजा गया था। परन्तु

६ दिसम्बर सन् १५८४ को जयपुर के राजा भारमल के पुत्र राजा जगन्नाथ को प्रताप के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजी जाने वाली बादशाही सेनाओं का सेनानायक बनाया गया, क्योंकि पता लगा था कि प्रताप के कार्य अब फिर मुग़लों के लिये भयावह हो उठे हैं। जगन्नाथ ने पहले मानसिंह के नेतृत्व में हल्दीघाटी में भी काम किया था। उस की नियुक्ति इसी प्रकार समझ में आ सकती है कि अनुमानतः अकबर ने कोई और भी चिह्न ऐसा देखा होगा जिस से कि उसे पता लगा कि राजपूत लोग प्रताप के लिये कठोर से कठोर कार्य करने को उद्यत हैं। हमारा अनुमान है कि सागर के प्रताप को छोड़ कर दिल्ली आ जाने से ही बादशाह की यह धारणा हुई।

राजा जगन्नाथ को अजमेर का सूबेदार भी बना दिया गया। जाफरबेग उसका प्रधान वेतनाध्यक्ष नियुक्त हुआ। वे शीघ्र ही मेवाड़ पहुँचे। यहां प्रताप ने फिर उनको अकेले काम करने को छोड़ दिया। उन्होंने उदयपुर से १०० मील उत्तर पूर्व मंडलगढ़ पर चढ़ाई की और उसे सर कर लिया। इस की रक्षा के लिए राजू को छोड़ कर राजा जगन्नाथ फिर प्रताप की राजधानी की ओर बढ़ा, जो कदाचित् कुम्भलगढ़ में थी। मुग़ल सेनाओं के पहुँचने पर प्रताप चुपके से निकल गया, और पहाड़ी दर्रों में से होकर उसने आस पास के मुग़लों पर छापा मारा। राजू को उसका पीछा करने के

लिये छोड़ा गया। परन्तु इससे पूर्व कि वह प्रताप की सेनाओं को पकड़ पाए प्रताप मुड़ कर चित्तौड़ की ओर चला गया। मुग़ल सेनापति को फिर वैसा ही करना पड़ा। परन्तु प्रताप इस बार भी साफ बच कर निकल गया। हाँ, राजा जगन्नाथ की सेनायें, कुछ समय बाद राजू की सेना से मिल गईं और उन्होंने आस पास के प्रदेश को खूब सताया।

जगन्नाथ राणा के पीछे लगा ही रहा। ८ अक्तूबर सन् १५८५ को मुग़ल सेनाओं ने राणा को प्रायः पकड़ ही लिया होता। उन्होंने सारे प्रदेश को छान डाला, और अन्त में वे अचानक वहां जा पहुँचे जहां प्रताप छिपा बैठा था। परन्तु एक स्वामिभक्त राजपूत ने भय का संकेत कर दिया। प्रताप तो बहुत कठिनाई से अपनी जान लेकर भाग गया, परन्तु उसका सारा सामान मुग़लों के हाथ आगया। जिन मार्गों से प्रताप गया था, उन्हीं से उसका पीछा करना बादशाही सेना ने अब निरर्थक समझा। उन्होंने सुना कि वह गुजरात प्रान्त की ओर चला गया है। उसके मार्ग को रोकने के लिये उन्होंने गुजरात का सीधा मार्ग पकड़ा। परन्तु प्रताप बीच ही में कहीं छिप गया था। इस लिये मुग़ल सेनायें शीघ्र ही डूँगरपुर वापिस आगईं। ऐसा करने में शीघ्रता इस करण की गई कि उन्होंने सुना कि प्रताप डूँगरपुर के राय से मिलकर उस तरफ़ उपद्रव उठाने का प्रयत्न कर रहा है। मुग़ल सेनायें इससे पूर्व कि राय कोई ऐसी स्थिति ग्रहण कर सके जो उन

के लिये भयावह हो, अचानक उस के सिर पर जा पहुँची। राय को अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। और मुग़लों ने उस का राज्य तभी छोड़ा जब उसने उनको कर-स्वरूप बहुत सा धन भेंट किया। जगन्नाथ यहां जुलाई १५८७ तक रहा। तब उसको काश्मीर की मुहिम के साथ जाना पड़ा।

नवाँ प्रकरण।

राजपूतों का मेवाड़ को जीतना।

जगन्नाथ के प्रयाण से मेवाड़ के इतिहास में एक विशेष काल का आरम्भ होता है। अकबर अब इन मुहिमों से तंग आ गया था। उन पर खर्च तो बहुत आता था, परन्तु फल कुछ भी नहीं निकलता था। उसे उत्तर-पश्चिम देश और पंजाब में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने को पड़े थे उसने अब राणा को आराम से रहने दिया। 'अकबरनामा' बतलाता है कि अजमेर की सूबेदारी के लिये सन् १५८६ में २००० अश्वारोहियों के सरदार राजा गोपालजादून की नियुक्ति हुई, सन् १५६४ में शिरोयाखां की, सन् १५६५ में दीवान भारतीचन्द की, सन् १५६५ में चितौड़ की फौजदारी के लिये रुस्तम खां की। परन्तु इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि इन सेनापतियों को वहां के विद्रोहों के दबाने का काम सौंपा गया था। न कहीं प्रताप के अधीनता स्वीकार करने का ही उल्लेख है। इसका अटल परिणाम इस राजपूती ऐतिह्य का समर्थन करता है कि अकबर ने सन् १५८५ के बाद प्रताप को बिलकुल निरंकुश छोड़ दिया।

इस अवकाश से प्रताप ने खूब लाभ उठाया। सन् १५८६

में अपनी सेना को फिर सुसंगठित करके इधर उधर बिखरे हुए स्थानों में मुग़ल सैनिकों पर धावे बोल दिए, और अभी उन मुग़लों को पता भी नहीं लगा था कि हुआ क्या है कि सारे प्रदेश में लूटपाट मचा दी और आप उसका स्वामी बन बैठा। केवल चित्तौड़, अजमेर और मंडलगढ़ में ही मुग़ल-सेनायें राजपूतों के आक्रमण के सामने ठहर सकीं। ये स्थान मुसलमानों के ही अधिकार में रहे। जैसा कि समय समय पर बादशाही सेनापतियों की इन स्थानों के लिए नियुक्ति से विदित होता है। सन् १५६० में चित्तौड़ में मुग़लों की एक टकसाल स्थापित की गई। बाक़ी सारा इलाक़ा राजपूतों के हाथ में चला गया और महाराणा यहां निष्क-एटक राज्य करने लगा। पुराने वैमनस्य का बदला लेने के लिये महाराणा ने जयपुर पर चढ़ाई की और जयपुर से ५५ मील की दूरी पर उसके धनवान नगर मालपुरा को लूट लिया।

अन्त में अब प्रताप के दिन शान्ति से बीतने लगे। अकबर के प्रति उस का विरोध इतना प्रबल और उस की लड़ाई इतनी दृढ़ थी, कि इस से पहले मुश्किल से ही उसे कभी निःशंक और शन्तिमय जीवन बिताने के लिए काफ़ी समय मिला था। राजपूत ऐतिह्य में संचित दो कहानियों से पता लगता है कि उन दिनों उसे कभी कभी कितनी चरम सीमा की कठिनाई उठानी पड़ती थी। एक मर्तबा की बात है, महाराणा भोजन करने बैठा था कि इतने में भयसूचक

संकेत हुआ कि शत्रु उस के पीछे आ रहा है। उसे तत्काल उस स्थान को छोड़ कर किसी अन्य स्थान की शरण लेनी पड़ी। यहां फिर उस के सहचरों को बैठने और उसे निश्चिन्तता से भोजन करने के लिए भी समय न मिला था कि गुप्तचर समाचार लेकर आये कि इस पहाड़ी स्थान पर घेरा डाला जा रहा है। फिर दुबारा प्रताप को यह स्थान छोड़ कर शीघ्रता से किसी दूसरे अधिक सुरक्षित स्थान की शरण लेनी पड़ी। मुग़लों ने इस बार भी पीछा करने में ढील न की और सात बार अपना सदर मुकाम बदलने के बाद ही उस को भोजन करना नसीब हुआ। एक और कथा बतलाती है कि जिस समय वह मुग़लों से बचने के लिए एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भागता फिरता था उस समय उस के कुटुम्ब को कैसी कैसी कठिनाइयां झेलनी पड़ी होंगी। कुंवर अमरसिंह की पत्नी को इस दुःख की मात्रा इतनी अधिक जान पड़ी कि वह निगल नहीं सकती थी। एक दिन जब वे एक मामूली सी झोंपड़ी में बैठे हुए थे उस ने स्त्री-सुलभ स्वभाव से पूछा कि इन दुःखों का अन्त कब होगा? कुंवर अमरसिंह ने उत्तर दिया, क्योंकि महाराणा अकबर का विरोध कर रहे हैं, इसलिए कोई नहीं कह सकता कि हमारे दुःखद दिनों का अन्त कब होगा। उस की यह टिप्पणी प्रताप के कानों तक पहुँची। उस ने चिल्ला कर कहा कि अमरसिंह अपने देश की प्रतिष्ठा को राजकीय सुखों के

लिए बेचने को पैदा हुआ है। अपनी असावधानता के लिये उसे झिड़की सहन करनी पड़ी। उस ने महाराणा को विश्वास दिलाया कि अपने धर्म का पालन करने में मैं कभी आलस्य नहीं करूँगा। ऐसे ही कठिन दिवस प्रताप ने प्रसन्नता से व्यतीत किये थे—परमेश्वर का धन्यवाद है कि अब इन का अन्त हो चुका था। जावर में एक गुफा है। उस के विषय में कहा जाता है। कि प्रताप उन विपत्ति के दिनों मे उस का उपयोग किया करता था। और मेवाड़ के सैर परगने में रुहेरा नामक स्थान पर बना हुआ एक घर महाराणा की दृढ़ता का बचा हुआ चिह्न है। मोगर के इलाके मे अहोर का किला है। कहा जाता है कि प्रताप ने इन झगड़े के दिनों में यहां शरण ली थी।

महाराणा ने इस अवकाश से पूरा पूरा लाभ उठाया होगा। वह जानता था कि युद्ध सदा नहीं रहेगा इस लिए उसे अपने सैनिकों को युद्ध के लिये तैयार रखना पड़ता था। उसे उन सब चीज़ों की मरम्मत करानी पड़ती थी जिन्हें मुग़ल-सेनाओं के आक्रमणों ने और काल के कुठार ने तोड़ फोड़ डाला था। जिन स्वाभाविक सरदारों ने उस का साथ दिया था उन को पुरस्कार भी देना था। उस ने अपने दो सरदारों को जागीरें दीं। वे अमेट और भींदर घराने के मूल पुरुष हुए। उस ने अपने सारे कर्तव्यों को भली भाँति पूरा किया।

सन् १५६७ के आरम्भ के लगभग एक चीते पर तीर मारते समय उस ने अपने शरीर पर बहुत अधिक जोर डाला। उस समय वह चबन्द में था जो कि अब उस की राजधानी थी। थोड़े दिन बीमार रह कर यहां १६ जनवरी सन् १५६७ को उस की मृत्यु हो गई। परन्तु उस ने मरने से पूर्व अपने उत्तराधिकारी से और सरदारों से यह प्रतिज्ञा करवा ली कि जिस पताका को उस ने ऊंचा रक्खा है उसे वे कभी झुकने न देंगे और दिल्ली के सिंहासन पर बैठनेवाले बादशाहों की अधीनता कभी स्वीकार न करेंगे। उस का अन्त्येष्टि-संस्कार चबन्द में हुआ। वह अपने पीछे ग्यारह पत्नियों से १५ बेटे छोड़ गया। जब यह समाचार अकबर को मिला तो उसे बड़ा खेद हुआ। इस समय दरबार में प्रसिद्ध राज-भाट दर्सा उपस्थित था। उस ने फौरन अपने भावों को नीचे पद्यों में प्रकट किया—

"अस लैगो अनदाग, पाघ लैगो अणनामी।
गौ आड़ा गवडाय, जिको वहतो धुर बामी॥
नवरोजौ नह गयौ, न गो आतसां नवल्ली।
न गौ झरोखां हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली॥
गहलोत राण-जीती गयो, दसन मूंद रसणा डसी।
नीसास मूक भरिया नयन, तो मृत शाह प्रताप सी॥

हे प्रताप! तूने अपने घोड़ों को दाग़ नहीं लगने दिया,

तूने अपना सिर कभी नहीं झुकाया, और तूने अपनी कीर्ति में कलङ्क नहीं लगने दिया। बहुसंख्यक शत्रुओं के सामने भी तू कभी घबराता नहीं था। तूने नौ रोज़ के त्यौहार में कभी भाग नहीं लिया, और न तूने कभी झरोखा दर्शन के नीचे से गुज़र कर बादशाह को प्रणाम किया, तूने इस संसार में बहुत उच्च स्थान प्राप्त किया। हे प्रताप! तेरी मृत्यु सुनकर अकबर की आँखें डबडबा गई और उसकी जिह्वा गले में अटक गई, क्यों कि तू ही अन्त में वस्तुतः विजयी रहा था।"

प्रताप की ऐसी प्रशंसा सुनकर दरबारी विस्मित रह गये, और भयभीत होकर अविनीत भाट के सिर पर गिरने वाले अकबर के क्रोध की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु इस बार अकबर ने विशाल हृदय का परिचय दिया। अब प्रताप जीवित नहीं था, और उसकी निन्दा करना व्यर्थ और अहित-कर था। उसने भाट की कविता की प्रशंसा की और उसे समुचित पारितोषिक दिया। परन्तु अबुल फ़ज़ल के हृदय में ऐसे उदार भावों का सर्वथा अभाव था। उसने प्रताप की मृत्यु का कारण उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अमरसिंह द्वारा विष दिया जाना बताया। क्योंकि यह बात सुनते ही अविश्वास्य सी जान पड़ती है इस लिये वह अगले ही वाक्य में अपने पाठकों को उसकी मृत्यु का सच्चा कारण भी बतला देता है।

इस प्रकार मेवाड़ के वैभव का सूर्य ५७ वर्ष की अपेक्षाकृत

छोटी आयु में ही अस्त हो गया।

एक तत्कालीन भाट उसकी मृत्यु पर इस प्रकार शोक प्रकट करता है—

"सोमो आवियो सुरसाथ सहेतो, ऊँच वहा ऊदाणा।
अकबर साह सरस अण मिलियां, राम कहै मिल राणा।
प्रम गुरु कहै पधारो पातल, प्राझा करण प्रवाड़ा।
हव सरस अमिलया हीन्दू, मंसू मिल मेवाड़ा।
एकंकार जो रहियो अगले, अकबर सरस अनैसो।
विसन भणौं रुद्र ब्रह्म विचालै, बीजा सांगण वैसो।

"राम ने दूसरे देवताओं के साथ उदयसिंह के पुत्र प्रताप का सत्कार इस प्रकार किया कि 'तुझे अकबर की सेवा में रहने से हृदय की प्रसन्नता नहीं होती थी, इस लिये तू मेरे पास आ। हे मेवाड़पति! हे सैकड़ों युद्धों के वीर, आ, तूने मुसलमानों की पराधीनता कभी स्वीकार नहीं की। तूने भूतल पर हिन्दू और मुसलमान धर्मों की गड़-बड़ करने में हाथ नहीं बटाया। हे प्रतापसिंह, हे राणा साँगा के बराबर के योद्धा, आगे बढ़ और ब्रह्मा और शिव के बीच में आकर बैठ।"

—:o:o:—

दसवाँ प्रकरण।

चरित्र और इतिहास में स्थान।

हिन्दू जाति के जिन नेताओं ने भारतवर्ष में मुसलमान प्रभुता के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ की उन में महाराणा प्रताप का स्थान बहुत ऊँचा है। शताब्दियों से हिन्दू लोग मुसलमान स्वामियों के सामने सिर झुकाते आए थे। यत्र तत्र कुम्भ और सांगा जैसे बहुत थोड़े नर-पुंगव ही ऐसे निकले, जिन्होंने अपने दूसरे मनुष्य-बंधुओं से ऊपर उठकर शासकों का विरोध किया था। दिल्ली की बादशाही शक्ति की पराधीनता राजपूतों ने प्रायः एकदम स्वीकार कर ली थी। प्रताप को उन शूर योद्धाओं में से ऊंचा मानने का रिवाज सा हो गया है जिन्होंने बहु-संख्यक शत्रुओं से निरन्तर युद्ध किया, और किसी की प्रभुता स्वीकार नहीं की। हमारा विश्वास है कि पहले इस संस्कार का संशोधन हो गया होगा। यह अधिक उचित होगा यदि कहा जाय कि प्रताप उस बड़ी वीर-माला के मोतियों में से एक था—नहीं, नहीं उस माला का पहला मोती था—जिस ने दक्षिण में शिवाजी और पंजाब में रणजीतसिंह पैदा किया। उसने न केवल मेवाड़ में अकबर के मनसूबे का ही

विरोध किया, वरन् उनके विरुद्ध विरोध को संगठित भी किया। सामान्य राजपूत राजाओं के विपरीत वह सदा बहुत ही प्रसन्न रहता था। उसे मुग़ल आक्रमणकारियों से बच निकलने में उतनी प्रसन्नता न होती थी, जितनी कि राजपूताने में मुग़लों के विजय-प्रवाह को बढ़ने से रोकने के लिए राजाओं को एकत्र करने में। किसी एक या दूसरे समय में उस ने सरोही के क्रूर देवरों, युद्ध-वीर राठौर, ईदर के शासक, डूँगरपुर के राजों, बूँदी के हाड़ों, और रणथम्भोर के चौहानों को एकत्रित किया था। जब राजाओं का एक संघ टूट जाता तो वह दूसरा बना लेता और इस प्रकार मुग़लों को ललकारता रहता था। इन भाँति भाँति के वीरों को इकट्ठा करने में वह अपने साथ भी कभी रियाअत न करता था। राव सुर्तान देवरा ने उसके नियुक्त किये हुए शासक को सरोही से निकाल भगाया था। परन्तु बजाय इसके कि वह इस छोटे कारण से उसके साथ अनन्त शत्रुता की शपथ लेता उसने उसका सहयोग मांगा, और बादशाही शक्ति के साथ युद्ध में उस को अपना सहायक बनाया। जोधपुर का राव मालदेव और राणा उदयसिंह अपने समय में उसके शत्रु रह चुके थे। एक बूढ़े कट्टर पंथी राजपूत को पारवारिक कलह जारी रखने और उसमें अपनी ही शक्ति को निर्बल करने से बढ़कर और कोई बात प्रसन्न न करती थी। परन्तु जब

राव मालदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी, राव चन्द्रसेन, कुम्भल गढ़ में प्रताप को उसके राज्याभिषेक पर बधाई देने आये, तो उस समय महाराणा ने पिछले झगड़ों को भुला दिया और दोनों १५८१ में चन्द्रसेन की मृत्यु तक एक दूसरे के सहायक बने रहे। दूसरी सब बातों से अधिक वह इस लिए भी हमारे सम्मान का पात्र है कि उसने युद्ध की उस प्रणाली का आरम्भ किया जिसका श्रेय अभी तक शिवाजी तथा मराठों को ही मिलता रहा है। चातुर्वर्ण्य-विभाग ने देश की रक्षा का भार राजपूतों के ही कन्धों पर फेंक रक्खा था और राजपूत किसी बड़े पैमाने पर युद्ध का संगठन करने के बजाए रणभूमि में लड़ कर मर जाने का ही यत्न करते थे। प्रताप इस राजपूत प्रथा के अनुसरण में केवल वहीं डट कर संग्राम करता था जहां उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य हो जाता था। परन्तु उसे सब से अधिक खुशी मुग़लों को कुत्ते का सा जीवन व्यतीत कराने में और जहां तक हो सके सभी अवसरों पर उन्हें तंग करने में, इस पर भी लड़ने और भाग जाने में होती थी, ताकि वह किसी दूसरे दिन लड़ाई कर सके। प्रताप के मुग़लों का प्रतिरोध करने का आधार यहाँ गुरिल्ला-युद्ध प्रणाली ही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुग़ल आक्रमण उस लाठी के सदृश निष्फल हो गये जो जल को पीटने का निरर्थक काम करती है। आगे चल कर मरहटों के साथ भी युद्ध में ऐसा ही हुआ। लाठी के गिरते ही जल

अलग हो जाता परन्तु उसके हटते ही फिर एक हो जाता था।

उसने न केवल इस युद्ध-प्रणाली का आरम्भ ही किया वरन् सफलतापूर्वक इसका उपयोग भी किया। बादशाही सेनाओं ने चाहे जैसे भी आक्रमण किए हों परन्तु मेवाड़ के स्वामी बनने में उन्हें कभी सफलता नहीं हुई। वे देश में लूट-पाट मचा सकती थीं, परन्तु उसे कभी जीत नहीं सकती थीं।

उसने सीसोदियों के हृदयों में अपनी प्रबल अजेय इच्छा का संचार कर दिया। मुग़लों ने और चाहे जो भी किया वे उसके अपने आदमियों की उसके प्रति भक्ति को शिथिल न कर सके। कोई जगमल या कोई शक्त बल्कि कोई सागर भी भले ही चला जाय और सीसोदिया वंश की प्रतिष्ठा को बादशाही दर्बार में किसी पदाधिकारी के बदले बेच दे, परन्तु फिर भी उसके अपने सहचरों में से, जिन में एक राजा, तीन राव और सात रावत थे, हम कभी किसी के द्वारा उसको छोड़ कर चले जाने का समाचार नहीं सुनते। यद्यपि मेवाड़ पर कई बार चढ़ाइयाँ हुईं थीं, और विश्वासघात कर के लोगों के छोड़ जाने के अवसर भी असंख्य निकले होंगे।

उस का मेवाड़ को अकबर से दुबारा जीत लेना उस की विधियों की सफलता का प्रबल प्रमाण है। सांगा बड़ा था, पर प्रताप को उस से भी बड़ा मानना चाहिये, क्योंकि वह सीसोदियों की कीर्ति को अम्लान रख सका, उस ने राज-

पूतों को यह पाठ पढ़ाया कि यदि वे अन्त को सफलता लाभ कर सके तो लड़कर भाग जाना वैसा ही वीरतापूर्ण कार्य है जैसा कि लड़ कर युद्ध-क्षेत्र में प्राण दे देना। उस ने एक संघ के बाद दूसरे संघ का संगठन किया और इस प्रकार राजपूतों को एकता का वह पाठ पढ़ाया। जिस की उन में बहुत अधिक कमी थी। जब मानसिंह और भगवानदास ने, कल्याणमल और रायसिंह ने, जगमल और दूदा ने अकबर के यहां नौकरी स्वीकार की, तो प्रताप ने चिरन्तन विरोध का प्रण लिया और अपने प्रण को निभा कर इस कार्य में अपने विरोधियों से प्रशंसा लाभ की।

खेद है कि उस के समय की दशा ने उसे शासन-सुधार का कार्य करने के लिये समुचित अवसर न दिया। अकबर की शक्ति के विरुद्ध विजय लाभ की व्यवस्था करना एक भागीरथ प्रयत्न था। इस से वह अवश्य ही बहुत थक गया होगा, क्योंकि इस के लिए कुछ नागरिक पुनर्सङ्गठन भी करना पड़ता था।

इस पर प्रताप कभी धर्मोत्तम न था। यदि वह मुग़लों के विरुद्ध उठा, तो इस लिए कि वह उनको देश की स्वतन्त्रता पर कुठार चलाने वाले समझकर उनसे हार्दिक घृणा करता था। बस इतनी ही बात थी। शत्रुओं की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा उसके हाथों उतनी ही सुरक्षित थी जितनी कि उनके अपने हाथों हो सकती थी। जब अब्दुलरहीम की

स्त्रियों को पकड़ कर अमरसिंह मन ही मन प्रसन्न हो रहा था, उस समय उसने अमरसिंह को झिड़का और स्त्रियों को सम्मानपूर्वक वापिस भेज दिया। यदि वह चाहता तो रात्रि में छापा मारकर मानसिंह कछवाहे की सारी महत्त्वाकांक्षा को मिट्टी में मिला देता। परन्तु सिंह प्रताप ने ऐसा करना पसन्द नहीं किया। हमने कभी ऐसी कोई बात नहीं सुनी कि उसने किसी भी ऐसे प्राणी के प्रति किसी प्रकार की क्रूरता दिखलाई हो जो दुर्भाग्य से किसी भिन्न धर्म में, उत्पन्न हुआ हो। अपनी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की धुन में, वह धार्मिक पक्षपात से सदा बहुत दूर रहता था। यही कारण था कि उसके पक्ष में होकर मुसलमान सेनापति और मुसलमान सिपाही अकबर के भी विरुद्ध लड़ते थे।

वह राजपूती आतिथ्य सत्कार को पूरी तरह निभाता था। जो कोई भी प्रारब्ध का मारा और मुग़लों का सताया सीसोदिया दरबार में आता, उसको वहां घर जैसा सुख मिलता। कितने ही राजाओं ने, जिन में से प्रथम ग्वालियर का रामशाह सब से प्रमुख था, उसके यहां शरण लाभ की।

जहाँ जहाँ भी गुणग्राही सज्जन हैं, वहाँ वहाँ इस महान सेनापति, वीरयोद्धा, सफल संगठन कर्त्ता, मनुष्यों में राजा, उदार शत्रु, प्रताप का नाम सदा सम्मान और प्रतिष्ठा के साथ लिया जायगा।